वर्ष २० | तु० सं० ३१८ ; वैशाख, सं० १९९९ वि०; मई, ४२ | खंड २

गान *

रत्नकुमारीदेवी काव्यतीर्थ

खोलता था जब उनींदे नयन यह संसार ;
थी अपार दिगन्त रेखा,
कहाँ नभ का अन्त देखा,
सिन्धु को कब घेरता था बिन्दु-सा आकार ;
भावना थक श्रान्त मन की,
खोजती सीमा न कण की,
थी न जीवन बाँधती यह शृङ्खला साकार ;
खोल उर के [illegible]ते पट,
पहुँच दूर अतीत के तट,
धो बहाऊ भ्रान्ति या फिर डूब पाऊँ पार ।

---

* सेठ गोविन्ददास के अप्रकाशित सामाजिक नाटक 'पतित सुमन' के लिए लिखित ।

संख्या | पू. सं. २३८

इतिहास-निर्माण में प्राचीन सिक्कों का महत्त्व

श्रीसतीशचन्द्र काला एम्० ए०

भारत में सिक्के अति प्राचीन काल से चले आ रहे हैं। इधर कुछ पिछले वर्षों में कतिपय विद्वानों ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि भारत-वासियों ने सिक्कों के बनाने की शैली यूनान से ग्रहण की है। वैसे तो सिक्कों के उदाहरण कई प्राचीन ग्रंथों में मिलते हैं। फिर भारत के प्राचीनतम कार्षापण सिक्कों में कोई भी ऐसी बात नहीं है, जिससे उन पर यूनानी प्रभाव बतलाया जा सके। स्वयं यूनानी ग्रंथकार, भारत में यूनानियों के आगमन से पहले के सिक्कों का उल्लेख करते हैं। सिकंदर जब भारत के उत्तरी-पूर्वी सीमा-प्रांत पर आ धमका तो उस अवसर पर तक्षशिला-नरेश ने राजा सिकंदर को सिगलेटी नाम के सिक्के भेंट किये। काँगड़ाप्रदेश में भी मिनेंडर तथा डिमिट्रियस के जो सिक्के प्राप्त हुए, उनके साथ कई घिसे कार्षापण सिक्के भी थे। इससे ज्ञात होता है कि कार्षापण सिक्के, यूनानियों के सिक्कों से पहले ही चल रहे थे। पाणिनि के ग्रंथ में भी सिक्कों का यत्र-तत्र उल्लेख है।

प्राचीन भारत का इतिहास अनेक विडम्बनाओं से परिपूर्ण है। जीवन के प्रति एक विचित्र दृष्टिकोण रखने के कारण प्राचीन आर्य, ऋषि, महर्षियों ने इतिहास को शृंखलाबद्ध जोड़ने तथा उसको स्थायी रखने का कोई यत्न नहीं किया। इस कारण भारत के अनेक राज्य, राजवंश तथा राजाओं के नाम विस्मृति के गर्भ में विलीन हो गये हैं। किंतु आधुनिक इतिहास इस कमी या भूल पर खेद प्रकट नहीं करते। वे अनेक यत्नों द्वारा इन लुप्त राजाओं को प्रकाश में ला रहे हैं। इस कार्य में सिक्के बड़े सहायक हुए हैं। संसार के प्रत्येक युग में धन-लोलुप व्यक्ति रहे हैं। इन लोगों ने प्रायः धन को भूमि में गाड़ दिया। आज अकस्मात् कभी-कभी ये सिक्के भूमि से निकल आते हैं। इन सिक्कों से अनेक राजाओं का पता लगा है।

मौर्य-साम्राज्य का विध्वंस होने के बाद पंजाब तथा उसकी सीमा पर यूनानियों ने धावा किया। कई वर्षों तक इस खंड में बाख्त्री यूनानियों, शक तथा पहलवी राजवंशों का प्रभाव रहा। इन राजवंशों के बहुत ही कम उल्लेख साहित्य में मिलते हैं। किंतु मुद्राशास्त्रियों के सहयोग से लगभग ६० यूनानी, शक तथा पहलवी राजाओं के नाम प्रकाश में लाये जा सके हैं। इन राजाओं के सिक्कों से ज्ञात हुआ है कि कौन-कौन राजा उन शताब्दियों में भारत की उत्तरी सीमा, पंजाब या मध्यप्रदेश में राज्य करते थे। यही नहीं, सिक्कों से यह भी ज्ञात होता है कि एक ही नाम के दो-दो राजा भी थे। डिमिट्रियस तथा यूक्रेटाइडिस नामों के दो-दो राजा हुए। अब यह कैसे पता लगता है कि इनमें से किसने पहले और किसने बाद में राज्य किया? मुद्राशास्त्री इन सिक्कों पर अंकित

राजाओं की प्रतिलिपियों से यह अनुमान लगा कर कि कौन युवा है और कौन वृद्ध, यह बतलाते हैं कि किस राजा ने प्रथम राज्य किया होगा। इसी आधार पर जीवदामन् तथा ईश्वरदत्त आभीर की आयु का पता लग सका है।

प्राचीन काल के सिक्कों से प्रत्येक युग के राजाओं के धार्मिक विश्वासों पर भी प्रकाश पड़ता है। यौधेय गण के सिक्कों पर कार्त्तिकेय का एकमुखी या षण्मुखी चित्रण है। इससे यह ज्ञात होता है कि स्वामि-कार्त्तिकेय यौधेय लोगों का कुलदेवता था। बाख्त्री यूनानियों के सिक्कों पर यूनानी देवी-देवताओं ही की मूर्तियाँ हैं। कुषाण-वंशीय राजा किसी विशेष धर्म के अनुयायी एकाएक न रहे। इन सम्राटों के सिक्कों पर यूनान, ईरानी तथा हिंदू-धर्म के प्रकृति पूजासंबंधी देवता या प्रतीक हैं। कनिष्क तथा हुविष्क हिंदू-धर्म से विशेष प्रभावित देख पड़ते हैं। कनिष्क राज्य के अंतिम समय के सिक्कों पर बुद्ध तथा हुविष्क के सिक्कों पर स्कंदकुमार, विशाख आदि-आदि देवताओं का चित्रण है। कई सिक्कों पर शिव तथा लक्ष्मी का भी चित्रण है। वीमा खडफसीस शिव का परम उपासक था। उसके सिक्कों पर त्रिशूल तथा नंदी अंकित है। कुषाण-वंश के सिक्कों पर लगभग ३३ प्रकार के देवी-देवता हैं। धर्म के दृष्टिकोण से गुप्तकालीन सिक्के बड़े महत्वपूर्ण हैं। गुप्तकाल में वैदिक धर्म का पुनरुत्थान होने लगा था। गुप्त राजाओं के कुछ सिक्कों पर लक्ष्मी का चित्रण है। समुद्रगुप्त ने कुछ ऐसे सिक्के चलाये थे, जिन पर कि घोड़े का अंकन है। ये सिक्के अश्वमेधयज्ञ के अवसर पर समुद्रगुप्त ने ब्राह्मणों को दक्षिणा देने के लिए बनवाये थे। कुमारगुप्त के सिक्कों से ज्ञात होता है कि वह स्वामिकार्त्तिकेय का परम भक्त था। मिहिरकुल के सिक्कों से इस बात की पुष्टि होती है कि वह शिव-उपासक था। गढ़िया के सिक्कों में भी एक ओर वाराह की आकृति है।

प्राचीन सिक्कों से, उस काल के राजाओं के यश, प्रभाव तथा वीर कार्यों पर भी प्रकाश पड़ता है। बाख्त्री यूनानियों के सिक्कों पर तो वैसिलियस वैसिलियोन पद ही लिखा है। गुप्त राजाओं के सिक्कों पर अधिक पद लिखे हुए हैं। इन लेखों से उन राजाओं के वीरता के कार्यों के बारे में बहुत कुछ ज्ञात होता है। सिंहपराक्रम, व्याघ्रपराक्रम, क्रांतपरशु आदि-आदि पदों से विदित होता है कि गुप्त सम्राट् अपने वीर कार्यों का प्रदर्शन सिक्कों के द्वारा भी करना चाहते थे। राजाओं के व्यक्तिगत जीवन के विषय में भी इन सिक्कों से कई बातें ज्ञात होती हैं। हरिषेण ने समुद्रगुप्त की इलाहाबाद की लाट की प्रशस्ति में स्पष्ट रूप से लिखा है कि समुद्रगुप्त संगीत का बड़ा प्रेमी था। इस बात की पुष्टि उन सिक्कों से होती है, जिनमें समुद्रगुप्त स्वयं वीणा बजा रहा है।

विदेशियों ने भारत आकर धीरे-धीरे यहाँ के धर्म तथा तत्वों को अपनाया। यह बात कुषाण सम्राटों के सिक्कों से ही ज्ञात होती है, किंतु हूण राजाओं के सिक्कों पर ये प्रभाव अधिक स्पष्ट हैं। इन राजाओं के सिक्कों पर सर्वप्रथम लेख पहलवी भाषा में हैं। कुछ समय बाद पहलवी के साथ, ब्राह्मी शब्द जैसे श और से का भी प्रयोग होने लगा। एक समय फिर ऐसा भी आया, जब कि पहलवी के स्थान में स्वतंत्र रूप से ब्राह्मी भाषा का प्रयोग होने लगा। क्षत्रपवंश के प्रथम क्षत्रप का नाम विदेशी (नाहपण) था। किंतु चस्टन, जो बाद का क्षत्रप था, का नाम भारतीय है। भूमक और नाहपण के सिक्कों के लेखों में खरोष्ठी तथा ब्राह्मी भाषा में लेख हैं। चस्टन के सिक्कों पर विशुद्ध ब्राह्मी है।

किसी राजा की राज्यसीमा तथा विस्तार पर भी प्राचीन सिक्के प्रकाश डालते हैं। मिनेंडर के सिक्कों के मथुरा के इर्द-गिर्द पाये जाने से ज्ञात होता है कि उसका राज्य पूर्व में मथुरा तक फैला था। इसी प्रकार बंगाल में समुद्रगुप्त के सिक्के पाये जाने से विदित होता है कि समुद्रगुप्त ने फ़रीदपुर तक राज्य किया था। जिन खंडों में अधिक सिक्के पाये गये हैं, वहाँ किसी वंश या राजा का लम्बे अर्से तक राज्य रहा था। चंद्रगुप्त द्वितीय ने पश्चिमी क्षत्रपों पर विजय प्राप्त की थी। इस विजित देश में उसने नये सिक्के नहीं चलाये। उसने क्षत्रपों ही के सिक्कों पर लेख व चित्र खुदवाये। इन सिक्कों पर एक ओर तो खुले पंख

सहित गरुड़ की आकृति है और दूसरी ओर चीण यूनानी अक्षर हैं। प्राचीन सिक्कों से यह भी ज्ञात होता है कि भिन्न-भिन्न युगों में राजा तथा गण-राजा एक भाग से दूसरे भाग में जाते रहे। शिविगण के सिक्के आज दिन नागरी तथा चित्तौर में मिलते हैं। किंतु शिवि लोग पंजाब के निवासी थे। सिकंदर जब भारत में आया तो उस समय वे पंजाब में ही थे। बाद को न जाने किन शताब्दियों में वे मध्यभारत की ओर आये।

इतिहास में देखा जाता है कि प्रायः सभी राजाओं ने अपने-अपने नाम के सिक्के चलाये। किंतु बाख़्त्री यूनानियों के बीच कभी-कभी दो राजा एक ही साथ राज्य करते थे। उनके कुछ सिक्कों पर दो-दो राजाओं का नाम लिखा है। यथा—लिसियस तथा ऐंटियाक्रीडीज़, स्ट्रेटो तथा अगाथोक्लिया, हरमियस-कैलियोपी आदि-आदि।

आंध्रवंश के राजाओं तथा उनके पदों ने एक बड़ी विडम्बना मुद्राशास्त्रियों के सम्मुख उपस्थित कर दी है। किंतु उनके सतत यत्न से कई समस्याएँ सुलझ गईं हैं। कई वर्ष पूर्व कोल्हापुर के निकट आंध्र राजाओं के ६०० सिक्के प्राप्त हुए थे। अनुसंधान तथा अध्ययन से ज्ञात हुआ है कि कई आंध्र राजाओं—जैसे गौतमीपुत्र विल्लवायकुड़, वशिष्ठपुत्र, विल्लवायकुड़ तथा माथड़ीपुत्र—ने अपने-अपने पूर्व राजा के ही सिक्कों को फिर अंकित कर चलाया। वशिष्ठपुत्र श्रीपुलमावी तथा शिव श्रीशातकर्णी ने एक ही प्रतीकों के सिक्के चलाये, जिनसे उनका एक ही वंश का होना सिद्ध होता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि विवाह के अवसर पर भी कुछ सिक्के चलाये जाते थे। चंद्रगुप्त प्रथम के सिक्कों पर चंद्रगुप्त की महारानी, जो कि लिच्छविवंश की थी, उसकी भी आकृति है। लिच्छवि एक बड़ा प्रसिद्ध वंश था। संभवतः इस कुटुम्ब के साथ संबंध करने से चंद्रगुप्त अपने को गौरवान्वित समझता था।

किंतु सबसे बड़ी बात जो सिक्कों से ज्ञात होती है, वह है भारत की राजनीतिक व्यवस्था पर प्रकाश। कतिपय विद्वानों की धारणा थी कि प्राचीन भारत में प्रजातंत्र राज्य नहीं था। यह धारणा साहित्य के अतिरिक्त सिक्कों से निर्मूल सिद्ध होती है। आज तक भारत में अनेक ऐसे सिक्के प्राप्त हुए हैं, जो कि जनपद तथा गौण संगठित राजाओं ने चलाये थे। तक्षशिला में तो ऐसे भी सिक्के मिले थे, जिनको कि व्यापारिक संघों ने चालू किया था। तक्षशिला के सिक्कों पर नेगम, पंचनेगम, तालिमात्, नेगमदोजक आदि लेख खरोष्ट्री तथा ब्राह्मी भाषा में हैं। एलन महोदय का कहना है कि ये सिक्के तक्षशिला के विभिन्न मुहल्लों की संस्थाओं ने चलाये थे। अनेक सिक्के मालव, यौधेय, अर्जुनयन, शिवि जनपद, त्रिगर्त जनपद, वृष्णि जनपद आदि-आदि गणों ने प्रचलित किये। यूनानी लेखकों ने जिन प्रजातंत्र राज्यों का उल्लेख किया है, उनके वर्णन की सत्यता पाये गये सिक्कों से हो गई है। यूनानी लेखकों के मल्लोय तथा सिवोय मालव तथा शिवि थे। अनेक प्रजातंत्र राज्य, जिनका उल्लेख यूनानी लेखकों ने किया है, उन की स्थिति का पता ही नहीं। सिकंदर ने व्यास नदी के तट पर एक समृद्धिशाली प्रजातंत्र का उल्लेख किया है। इस स्थान पर यौधेयों के अनेक सिक्कों के पाये जाने से ज्ञात होता है कि सिकंदर का अर्थ यौधेयगण राज्य से ही था।

भारत के अति प्राचीन कार्षापण सिक्के भी विशेष महत्त्व के हैं। इनमें अंकित अनेक चिह्नों का प्रागैतिहासिक उद्गम घोषित किया गया है। फिर यह भी प्रश्न उठता है कि वे केंद्रीय या प्रांतीय सरकार द्वारा चालू किये गये थे। वैसे इन सिक्कों पर कोई लेख नहीं है, जिससे कि उनके ठीक युग का पता लगाया जा सके; किंतु इन चिह्नों के आधार पर मुद्राशास्त्री कुछ सिक्कों की आयु निर्धारित कर सके हैं। स्वर्गीय बाबू दुर्गाप्रसाद ने कार्षापण सिक्कों का विस्तृत अध्ययन कर इस बात की पुष्टि की थी कि अनेक सिक्के केंद्रीय सरकार की ओर से छापे गये थे। ऐसे सिक्कों में चिह्न प्रायः एक से हैं। इन चिह्नोंवाले सिक्के तक्षशिला, मिदनापुर दक्षिण तथा मध्यप्रांत में भी प्राप्त हुए हैं। ऐसे कुछ सिक्के पटने में मौर्यकालीन तहों पर भी प्राप्त हुए थे। पर्वत के ऊपर चंद्रमा का प्रतीक प्रायः कार्षापण सिक्कों पर दीख पड़ता है। यह चिह्न मौर्यकालीन

बर्तनों तथा एक लकड़ी के स्तंभ पर भी छपा था। इसलिए अनेक विद्वानों ने इसे मौर्य सम्राटों का प्रतीक माना है। सिक्कों पर वृक्ष (संभवत: पातालि) का चित्रण है। इस प्रकार के चिह्नों का ऐसा विस्तृत फैलाव किसी विशाल साम्राज्य के ही अंतर्गत हो सकता था और यह साम्राज्य मौर्य-साम्राज्य ही रहा होगा। कौटल्य भी अपने अर्थशास्त्र में एक मुद्राध्यक्ष का उल्लेख करता है। प्राचीन भारत में सिक्के केंद्रीय तथा प्रांतीय सरकार के द्वारा चालू किये जाते थे। विशुद्ध मग्ग से भी ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में कोई भी मनुष्य देखने तथा सूँघने से यह बतला सकता था कि यह सिक्के किसके हैं और किस स्थान पर छापे गये थे।

इस प्रकार आधुनिक काल में सिक्के केवल प्रदर्शन ही की वस्तुएँ नहीं हैं। उनका ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विशेष महत्व है। देश के इतिहास-निर्माण में जितनी सहायता शिलालेखों से मिलती है, उतनी ही सिक्कों से भी।

हमारा सैनिक इतिहास

श्रीचन्द्रकिशोर मालवीय

(१)

वर्तमान महायुद्ध की राजनीतिक प्रतिक्रिया हमारे भारत में ही नहीं, संसार के प्रत्येक देश में हुई और हो रही है। हमारे देश के पिछले २० वर्ष इस बात के साक्षी हैं कि हममें—हम हिंदुस्थानियों में राजनीतिक जागृति का प्रादुर्भाव हुआ है। इस जागृति के कारण हम यह समझने लगे हैं कि हम ४० करोड़ होते हुए भी इतने निरीह हैं कि कोई भी शक्तिशाली राष्ट्र हमारी नींद हराम कर सकता है। जापान के कारण आज हमारी नींद हराम है और ४० करोड़ होते हुए भी सिवा भागने के हम और कुछ भी नहीं कर सकते! आज हमारी सामरिक, औद्योगिक एवं आर्थिक शक्ति क्षीण है। क्षीण इसी लिए है कि पराधीनता के कारण हम देश को शक्तिशाली बना ही नहीं सकते। हम जानते हैं कि आज हमें इस लायक़ बनाया ही नहीं गया कि आधुनिकता के ताने-बाने में कसी-सी साम्राज्यवाद की मदिर मादकता से मस्त किसी भी सशस्त्र सेना का हम सफलतापूर्वक सामना कर सकें। हमें अफ़सोस है कि कच्चे मालों एवं अन्य युद्धोपयोगी वस्तुओं को पैदा करने पर भी आज हम इस लायक़ बनाये ही नहीं गये कि आततायियों के हवाई हमलों का जवाब हवाई हमलों से, समुद्री आक्रमणों का जवाब समुद्री आक्रमणों से और सैनिक आक्रमण का जवाब सुशिक्षित सैनिकों से दे सकें।

हमारे लिए अब यह लाज़िमी हो गया है कि हम फिर अब जाग जायँ, अन्यथा 'ताड़ पर से गिरे कि खजूर में अटके' वाली कहावत चरितार्थ होगी। चरितार्थ होगी क्या, वरन् हो रही है। हमारे लिए अब यह अनिवार्य हो गया है कि हम फिर अब यह समझने लग जायँ कि हम क्यों इतने अशक्त हैं कि जिसको देखो, वही हम पर दाँत लगाये हुए है? जापान चाहता है कि कभी का बौद्ध भारत जापानी बौद्ध-साम्राज्य के अन्तर्गत रहे; जर्मनी चाहता है कि भारत उसी का रहे और यही इटली आदि अन्य शक्तिशाली देश भी चाहते हैं। मगर क्यों? इसी लिए न कि हम इतने कमज़ोर हैं कि सभी हमें अपनाना

चाहते हैं—अपना गुलाम बनाना चाहते हैं। पहले हम हूणों के गुलाम बने, दुबारा शकों के गुलाम बने, फिर मुसलमानों के गुलाम बने। तब अँगरेज़ों के गुलाम बने और अब इन धुरी-पत्तियों के इरादे हमें गुलाम बनाने के हैं। हमारे भाग्य में क्या दुनिया भर की गुलामी ही करना बदा है? हमें यह पश्चात्ताप क्यों नहीं होता कि ४० करोड़ होते हुए भी इतनी ताक़त हम में क्यों नहीं आविर्भूत होती कि दुनिया के वे देश, जो आज हमें गुलाम बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं, हमसे डरें और इतना डरें कि स्वयं उन्हें ही यह आशंका होने लगे कि कहीं ऐसा न हो कि भारत की सेना कहीं उन्हीं पर आक्रमण न कर बैठे, कहीं ऐसा न हो कि हमें गुलाम बनाने के बदले वे ही हमारे गुलाम बन जायँ?

और हमने क्या कभी ऐसा किया नहीं? कभी हमारा भी साम्राज्य था। कभी हम भी स्वतंत्र थे और अखिल संसार पर शासन करते थे!! मगर हम देखते हैं, अपनी इन बेहया आँखों से हम देखते हैं कि हममें इतना सोच सकने का भी अब माद्दा बाक़ी नहीं है। हमें अफ़सोस है कि कभी हमारा भी उदय-अस्त तक विस्तीर्ण साम्राज्य था, यह हम भूल गये हैं कि कभी हम भी विजयी सैनिक थे। अपना—अपने इस पराधीन देश का इतिहास उठाकर देखिए, हम परम्परा ही से युद्ध-प्रिय रहे हैं; हम सदा ही से पटु सैनिक, चतुर नाविक एवं उत्तम निशानेबाज़ रहे हैं। युद्ध हमारे लिए सौभाग्य था, मृत्यु हमारे लिए प्रिय थी और युद्ध का मैदान हमारा स्वर्ग था।

किसी भी देश का इतिहास उस देश-विशेष की पुरानी स्मृतियों की पुनरुक्ति करता है। पर हम तो इतिहास से भी पुराने हैं। हम तो तभी अपने ज्ञान-आलोक से तत्कालीन संसार के अज्ञानान्धकार को दूर कर चुके थे, जब सिवा हमारे इतनी बड़ी दुनिया में ऐसा कोई और था ही नहीं, जो हमारा इतिहास लिख सकता। मगर हम जानते हैं कि कभी हम क्या थे और आज क्या हैं। हम जानते हैं कि कभी हम शासक थे और आज शासित हैं। हम जानते हैं कि कभी दूसरे हमारे आसरे जिया करते थे और आज हम दूसरों के आसरे जीते हैं।

अपने पुराणों एवं अन्य दुर्लभ ग्रंथों द्वारा हम यह जान सकते हैं कि हमारी उस समय की विजयिनी सेनाएँ कैसी थीं—क्या थीं? पौराणिक उपाख्यानों एवं अन्य कथा-ग्रंथों में कभी के अखिल आर्यावर्त के ५६ राज्यों के पारस्परिक युद्धों का वर्णन हमें मिलता है। तत्कालीन धर्म-युद्धों में भाग लेनेवाली उभय-पक्षीय सेनाएँ चार भागों (रथ, गज, तुरग एवं पदाति) में विभाजित थीं। इन पौराणिक युद्धों में भाग लेनेवाले सैनिकों की संख्या के बारे में, पढ़े-लिखे लोगों का ख़याल है कि वे अतिशयोक्ति हैं। परंतु अपनी इस भ्रान्त धारणा की पुष्टि में वे कोई भी प्रबल प्रमाण नहीं दे सकते। हमारे कई प्रमुख वैज्ञानिक, ऐतिहासिक एवं सामरिक ग्रंथों में—विशेषतया "शुक्र-नीति" एवं "अर्थ-शास्त्र" में इस बात का हवाला भी है कि सेनाओं का संगठन एवं यातायात आदि का प्रबंध कैसे करना चाहिए? आधुनिक पाश्चात्य विद्वान् भी इन ग्रंथों की प्रामाणिकता तथा उपादेयता के क़ायल हैं।

हमारे सामने हमारे देश का सर्व-प्रथम युद्ध 'राम-रावण-युद्ध' के नाम से आता है। परंतु हमें दुःख है कि दोनों पक्षों की सैनिक-संख्या तथा उनका युद्ध-विवरण जान सकने का कोई ठीक ज़रिया हमारे पास नहीं है। दूसरा युद्ध महाभारत का था। संभव है, राम-रावण-युद्ध और महाभारत के युद्ध के बीच में और भी युद्ध हुए हों; पर जितने परिष्कृत रूप से महाभारत का विवरण हमें मिल सका है, उतना अन्य किसी युद्ध का नहीं मिलता। भगवान् वेदव्यास द्वारा उच्चारित एवं मंगलमय भगवान् गणेश द्वारा लिखित महाभारत ग्रंथ द्वारा हमें यह पता चल सका है कि इस युद्ध में अखिल संसार के राजाओं ने भाग लिया था। महाभारत, हरिवंश एवं भागवत पुराण आदि ग्रंथों से यह पता चलता है कि महाभारत-काल में लगभग २३ राज्य ऐसे थे, जिनके राजा यथेष्ट शक्ति-शाली और एवं प्रतापी थे। उक्त ग्रंथों के अनुसार इन २३ राजाओं की सैनिक-संख्या इस प्रकार थी—

(१)	जरासंध	२०	अक्षौहिणी *
(२)	काशिराज	३	,,
(३)	पौण्ड्रराज	२	,,
(४)	चेदिराज दन्तवक्र	१	,,
(५)	राजा रुक्मी	१	,,
(६)	राजा शल्य	१	,,
(७)	राजा बाण	१२	,,
(८)	राजा भगदत्त	१	,,
(९)	राजा दुर्योधन	१	,,
(१०)	राजा द्रुपद	१	,,
(११)	राजा बिन्द अनुबिन्द	२	,,
(१२)	मत्स्यराज विराट्	१	,,
(१३)	राजा भूरिश्रवा	१	,,
(१४)	सिन्धुराज जयद्रथ	१	,,
(१५)	केकयराज	१	,,
(१६)	गान्धारराज	१	,,
(१७)	कलिङ्गराज	१	,,
(१८)	काम्बोजराज सुदक्षिण	१	,,
(१९)	अयोध्याराज बृहद्बल	१	,,
(२०)	सात्वतराज कृतवर्मा	१	,,
(२१)	सात्यकि	१	,,
(२२)	भीमपुत्र घटोत्कच	२	,,
(२३)	द्वारकाधीशगण	१२	,,
	कुल	६९	अक्षौहिणी

एक अक्षौहिणी सेना में २१,८७० रथ, २१,८७० हाथी, ६५,६१० घोड़े तथा १,०९,३५० पैदल होते हैं। इस हिसाब से महाभारत-काल में भारतीय राजाओं के पास २१८७० × ६९ = १५,०८,१३० रथ, २१८७०×६९=१५,०८,१३० घोड़े, ६५६१०×६९=४५,२७,०९० हाथी और १०९३५०×६९=७५,४५,१५० पैदल थे, जिनके कुल सैनिकों की संख्या का टोटल (१५०८१३०+१५०८१३०+४५२७०९०+७५४५१५०)=१,५०,६८,५०० तक पहुँचता है। मगर यहाँ पर यह याद रखना परमावश्यक है कि उन दिनों १ रथ में ४ घोड़े जुतते थे और उस पर १ रथी, १ सारथी तथा २ सहायक सैनिक धनुष-बाण, भाले, खड्ग, परशु एवं ढाल आदि लेकर बैठते थे। १ हाथी पर १ गजपति (योद्धा), १ महावत, १ उप-महावत, लम्बी-चौड़ी ढालें लिये २ रक्षक, १ धनुर्धर तथा २ सहायक सैनिक बैठते थे। इस प्रकार आप देखेंगे कि प्रति रथ ४ और प्रति गज ८ मनुष्य होते थे। इसके अर्थ यह हुए कि तत्कालीन भारतीय सेना की कुल संख्या बजाय १,५०,६८,५०० के, (१५०८१३०×४) + (१५०८१३०×८) + (४५२७०९० + ७५४५१५०) थी, जिसका कुल टोटल=६०, ३२, ५२० + १, २०, ६५, ०४० + ४५,२७,०९० + ७५,४५,१५० = ३,०२,६९,८०० था। संसार के विभिन्न राष्ट्रों की वर्तमान सैनिक संख्या को देखते हुए यह संख्या अतिशयोक्ति नहीं है, जब—

(१) रूस	की सैनिक संख्या			१,५०,००,०००
(२) जर्मनी	,,	,,	,,	१,००,००,०००
(३) इटली	,,	,,	,,	७८,४७,१५१
(४) जापान	,,	,,	,,	६२,४८,०००
(५) फ़्रांस	,,	,,	,,	६०,९६,६२९
(६) इँगलैंड	,,	,,	,,	३५,००,०००
(७) अमेरिका	,,	,,	,,	३०,००,०००
(८) चीन	,,	,,	,,	२०,००,०००
(९) रूमानिया	,,	,,	,,	१८,२८,०००
(१०) यूगोस्लाविया	,,		,,	१८,१५,२३७
(११) पोलैण्ड	,,	,,	,,	१५,००,०००
(१२) टर्की	,,	,,	,,	१२,००,०००
(१३) बेलजियम	,,	,,	,,	७,६८,६७७
(१४) बलगेरिया	,,	,,	,,	७,०१,६१०
(१५) हंगरी	,,	,,	,,	७,००,०००
(१६) स्वीडन	,,	,,	,,	६,२४,०००
(१७) यूनान	,,	,,	,,	५,८८,०४६
(१८) पुर्तगाल	,,	,,	,,	५,१५,८००
(१९) स्विट्ज़रलैण्ड	,,		,,	४,९३,९३१

* हरिवंश एवं विष्णुपुराण के अनुसार जरासंध की सेना २० अक्षौहिणी थी। पर भागवत पुराण के अनुसार २३ अक्षौहिणी थी।
—लेखक

(२०) लिथुआनिया	की	सैनिक	संख्या	३,१२,४००
(२१) फ़िनलैण्ड	,,	,,	,,	२,९०,०००
(२२) अर्जेण्टाइन	,,	,,	,,	२,८२,५०३
(२३) हालैण्ड	,,	,,	,,	२,४१,२००
(२४) लटविया	,,	,,	,,	२,२५,७००
(२५) चाइल	,,	,,	,,	१,९६,६५४
(२६) नारवे	,,	,,	,,	१,३४,२००
(२७) ब्रेज़िल	,,	,,	,,	१,२०,३००
(२८) इस्थोनिया	,,	,,	,,	१,२०,०००
(२९) मैक्सिको	,,	,,	,,	१,११,९३३
(३०) बोलीविया	,,	,,	,,	१,०६,९००
(३१) परागुए	,,	,,	,,	१,००,१०४
(३२) डेन्मार्क	,,	,,	,,	१,००,०००
(३३) कोलम्बिया	,,	,,	,,	६४,८१०
(३४) क्यूबा	,,	,,	,,	६२,४९६
(३५) इक्वेडर	,,	,,	,,	४५,४५०
(३६) गुआतेमाला	,,	,,	,,	३६,०००
(३७) उरागुवे	,,	,,	,,	३२,८७२
(३८) पेरू	,,	,,	,,	३१,७५७
(३९) डोमीनियन रिपब्लिक	,,		,,	१६,७००
(४०) हाण्डुराज़	,,	,,	,,	१५,०४७
(४१) एलसाल्वेडर	,,	,,	,,	५,०५७
(४२) हैती	,,	,,	,,	३,४७४
(४३) निकारागुआ	,,	,,	,,	२,९४०
(४४) कास्टारिका	,,	,,	,,	५७४ *

उक्त ४४ राज्यों की सैनिक संख्या का टोटल उक्त तालिका के अनुसार ६,६३,९६,१६२ तक पहुँचता है, जो कि महाभारतकालीन सेनाओं की संख्या के दुगने से भी अधिक है। तिस पर उक्त तालिका में अफ़ग़ानिस्तान, ईरान, ईराक़ एवं आस्ट्रेलिया आदि देशों की सैनिक संख्या शामिल नहीं है।

जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, हमारे सामने हमारे देश का सर्वप्रथम महायुद्ध, जिसके बारे में हमें कुछ जान सकने का सौभाग्य प्राप्त हो सका है, महाभारत का युद्ध है। अखिल संसार के हिन्दूनामधारी मानवों पर यह बात अप्रकट न होगी कि उक्त महाभारत-युद्ध में १८ अक्षौहिणी सेना ने भाग लिया था, जिसमें से ११ अक्षौहिणी कौरवों और ७ अक्षौहिणी पाण्डवों की ओर से लड़ी थीं। १८ अक्षौहिणी सेना में ३,९३,६६० रथ, ३,९३,६६० गज, ११,८०,३८० अश्वारोही एवं १९,६८,३०० पैदल होते हैं। पर चूँकि १ रथ में ४ और १ हाथी पर ८ सैनिक बैठते थे, अतएव कुल सेना में ११,८०,३८०+ १९,६८,३०० + १५,७४,६४० + २१.४९,२८० = ६८,७२,१०० सैनिक, ११,८०,३८० घोड़े, ३,९३,६६० हाथी तथा ३,९३,६६० रथ थे, जिन्होंने उस महाभारत के युद्ध में भाग लिया था। इन ६८,७२,१०० सैनिकों में से कुल ८ मनुष्य जीते बचे थे। अतः महाभारत के युद्ध में ६८,७२,०९२ सैनिक हताहत हुए थे।

महाभारत के बाद भी और पहले भी न जाने कब और न जाने कितने युद्ध हुए होंगे; पर उनका कोई विवरण हमें नहीं मालूम। हमें अब अनुभव हो रहा है अपने उस दुःख का, जिसका कारण हमारा यह अज्ञान है कि हम यही नहीं मालूम कर सकते कि जब हम संसार-विजयी थे, तब हमारी सेना कैसी थी, क्या थी, कितनी थी? इतिहास बताते हैं कि यह हज़ारों वर्ष पहले की बात है, इसी से उसका विवरण वे नहीं जान पा सके हैं। उनका कहना है कि आज से लगभग १५,००० वर्ष पहले अखिल संसार इस आर्यावर्त का—हमारे हिंदुस्थान का ग़ुलाम था। पर चूँकि उस समय का हमारा इतिहास श्रृंखलाबद्ध नहीं है, इसलिए हम जान ही नहीं सकते कि राम-रावण-युद्ध में भाग लेनेवाले दोनों पक्षों के प्रतिद्वन्द्वियों की शक्ति क्या थी। हम तो इतना भी नहीं जान सकते कि पहले महाभारत हुआ या राम-रावण-युद्ध? सिर्फ़ यही सुन पा सके हैं कि त्रेता युग में भगवान् राम और द्वापर के अंत में भगवान् कृष्ण उत्पन्न हुए थे।

हमारा इतिहास श्रृंखलाबद्ध तब हुआ, जब ईसा

* उक्त सैन्य-संख्याएँ १९३९ ई० की हैं, जब इस भयानक महायुद्ध का सूत्रपात भी नहीं हुआ था।—लेखक

से लगभग ३५७ वर्ष पूर्व अलक्षेन्द्र (सिकन्दर) ने भारत पर आक्रमण करके हमें पहली बार ग़ुलाम बना सकने की जुर्रत की थी। उन दिनों हमारा एक देश अनेक भागों में विभाजित था। प्रत्येक प्रान्त में अलग-अलग राज्य स्थापित थे, अतएव देश प्रान्तों में नहीं, वरन् राज्यों में बँटा हुआ था। इस कमज़ोरी से अलक्षेन्द्र ने फ़ायदा उठाना चाहा, और लगभग १,२०,००० पैदल तथा २०,००० घुड़सवारों सहित पञ्चनद (पञ्जाब) पर आक्रमण कर दिया। तत्कालीन पञ्चनद-नरेश स्वनामधन्य महाराज पुरु (पोरस) ने ३०,००० पैदलों, ४,००० घोड़ों, ३०० रथों तथा २०० हाथियों सहित अलक्षेन्द्र का जिस वीरतापूर्वक सामना किया था, उसका लोहा यूनानी इतिहासकार भी मानते हैं। अलक्षेन्द्र के साथ आये हुए इतिहासकारों ने लिखा है कि उन दिनों भारत में यह आम रिवाज-सा था कि १ रथ में ४ घोड़े जुतते थे, जिस पर बैठे हुए ६ सैनिकों में से २ के पास धनुष-बाण, २ के पास भाले, बरछे, साँगे, खड्ग, शूल, फरसा आदि शस्त्र और २ के पास आदमी के बराबर लम्बी-चौड़ी ढालें आत्मरक्षार्थ होती थीं। पैदल सैनिक लोहे के चौड़े एवं नुकीले फलोंवाले बाणों, भालों तथा खड्गों से लड़ते थे। धनुष उनका ५ हाथ ऊँचा होता था, जो कि ज़मीन में गड़ा होता था। धनुर्धर अपने पैरों तथा हाथों की मदद से इतने बड़े धनुष की प्रत्यञ्चा खींचते थे। यूनानी इतिहासकारों के दिलों में इन भारतीय धनुर्धरों के प्रति आदर का भाव था। यूनानी इतिहासकार 'हिरोडोटस' (Hirodotus) ने लिखा है कि 'प्लेट की लड़ाई' में सूती पोशाक पहने और लम्बे-लम्बे धनुषों एवं लोहे के फलोंवाले बाणों की सहायता से भारतीय धनुर्धरों ने फ़ारस की सेना को तितर-बितर कर दिया था। भारतीय धनुर्धरों के हस्त-लाघव की प्रशंसा करते हुए प्रसिद्ध इतिहासकार 'आरियन' ने अपनी ऐतिहासिक पुस्तक 'इन्डिका' (Indika) में लिखा है—

"There is nothing which can resist an Indian Archer's shot, neither shield nor breastplate, nor any stronger defence, if such there be."

अर्थात्—"ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो भारतीय धनुर्धर के बाणों को सहन कर सके, न ढाल, न कवच और न कोई अन्य रक्षात्मक वस्तु ही, यदि ऐसी कोई हो।"

मगर इन सब यौद्धिक पटुताओं के होते हुए भी भारतीय हारे। यूनानियों से हारे, हूणों से हारे, शकों से हारे, मंगोलियनों से हारे, मुसलमानों से हारे, और हारे अँगरेज़ों से भी—आख़िर क्यों? इसका कारण था हमारे उन पुरुषों—सैनिकों एवं सेनाध्यक्षों का यह विश्वास कि शत्रु उनसे धर्मयुद्ध करेगा। उन्होंने शत्रुओं पर भी विश्वास किया, समझा कि शत्रु ईमानदारी से—सचाई से लड़ेंगे। प्रातःस्मरणीय, वीर-पुङ्गव पञ्चनद-नरेश महाराज पुरु इसी लिए हारे थे। उन्हें विश्वास था कि अलक्षेन्द्र कभी रात्रि में आक्रमण न करेगा। पर उन्हें क्या मालूम था कि ३०० नावों के बेड़े पर चढ़कर अलक्षेन्द्र रात ही में नदी के इस पार पड़ी भारतीय सेना पर हमला कर देगा? यही कारण था कि वीर होते हुए भी, चतुर एवं अनुभवी योद्धा होते हुए भी, संख्या में शत्रु से अपेक्षाकृत कम न होते हुए भी हम हारे।

इतिहासकार बताते हैं कि पञ्चनद-विजय के पश्चात् अलक्षेन्द्र ने मध्यभारत में घुसना चाहा, पर उसकी सेना ने आगे बढ़ने से इनकार कर दिया। कहा जाता है, उन दिनों भारत में बहुत-से शक्तिशाली राजा थे, जिनकी सेना के आगे महाराज पुरु की सेना भी कुछ नहीं थी। मगध-नरेश की सेना में उन दिनों २,००,००० पैदल, ८०,००० घोड़े, ८,००० रथ तथा ६,००० हाथी थे। तत्कालीन इतिहास के पन्ने बताते हैं कि अलक्षेन्द्र का भारत पर आक्रमण होते ही सारे भारतवर्ष में एक सैनिक जागृति-सी हो गई थी और अनेक भारतीय नरेश आक्रमणकारी से लड़ने को उतावले हो उठे थे। ४०,००० पैदल, १०,००० घोड़े एवं ८०० रथों सहित मालव-नरेश तथा ३०,००० पैदल, २०,००० घोड़ों तथा ३० हाथियों सहित स्वात-नरेश महाराज अश्वक ने अलक्षेन्द्र का पीछा ही नहीं किया, वरन् उसे घायल भी किया था। ४०,००० पैदलों सहित अङ्ग-नरेश महा-

राज शिवि तथा ४०,००० पैदल तथा ३,००० घुड़-सवारों सहित बाह्लिक-नरेश महाराज चुद्रक अलत्तेन्द्र को पञ्चनद से आगे न बढ़ने देने के लिए सेना-सहित कूच भी कर चुके थे। पञ्चनद-युद्ध ही में अलत्तेन्द्र और उसकी सेना को अनुभव हो चुका था कि भारतीय सेना साधारण नहीं है। फिर जिस देश की स्त्रियाँ भी पुरुषों के कन्धों से कन्धा भिड़ाकर लड़ सकती हैं, उस देश को जीत सकना क्या आसान है? यूनानी इतिहासकार डेओडोरस (Diodorous) ने, जो अलत्तेन्द्र की सेना के साथ ही था, लिखा है कि जब पञ्चनद-नरेश महाराज पुरु की सेनाएँ हार रही थीं, तब—

"The women taking the arms of fallen, fought side by side with the men........Poros's elephants lying wounded or straying riderless, did not fiee but remained fighting. Seated on an elephant of Commanding height, Poros received 9 wounds before he was made prisoner. Due to bravery of Indian soldiers and women, Alexander's army was afraid of penetrating into rest of India....."

अर्थात् "तब स्त्रियों ने मरे हुए सैनिकों के शस्त्रों को उठा लिया और पुरुषों के कन्धों से कन्धे मिलाकर लड़ने लगीं। पुरु की सेना के घायल अथवा महावतहीन हाथी भागे नहीं—डटे रहे, लड़ते रहे। ऊँचे हाथी पर बैठकर लड़ते हुए पुरु के ९ घाव लग चुके थे, जब वह बन्दी बनाया गया था। भारतीय सैनिकों एवं स्त्रियों की वीरता के कारण ही अलत्तेन्द्र की सेना ने शेष भारत की ओर बढ़ने से इनकार कर दिया था।"

हमें अलत्तेन्द्र के एशियाई चत्रप सिल्यूकस नाइटेकर की याद आती है। उसने यही समझकर भारत पर आक्रमण किया था कि भारतीय सैनिकों के अंधविश्वास तथा उनके हाथियों के कारण ही वह भारत को जीत लेगा। दूसरा कारण शायद यह भी था कि उन्हीं दिनों मगध-नरेश महाराजाधिराज श्रीपद्मनंददेव का नाश करके परम कूटनीतिज्ञ आर्य चाणक्य ने मौर्यसाम्राज्य की नींव डाली थी। महाराज पद्मनन्द के पास १,२०,००० पैदल, ७२,००० घोड़े, ८,००० रथ तथा ६,००० हाथी थे। शायद इतनी बड़ी सेना का सामना कर सकने की हिम्मत सिल्यूकस में तब नहीं थी। मगर जब परमवैष्णव, परमभट्टारक, परममाहेश्वर महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्तदेव मौर्य उत्तराखंड के सम्राट् हुए, तब सिल्यूकस ने समझा कि वह चुटकी बजाते इस नव-निर्मित साम्राज्य के नवयुवक सम्राट् को जीत लेगा। मगर "मस्जिद गये नमाज़ पढ़ने कि रोज़ा गले पड़ा।" सिल्यूकस को मुँह की खानी पड़ी। यहाँ तक कि अपनी एकलौती बेटी 'हेलेन' से भी हाथ धोना पड़ा। राज्यगुरु, राष्ट्रगुरु, स्वनामधन्य श्रीचाणक्यदेव उन दिनों महामात्य के गौरवान्वित पद पर आसीन थे। उनके मन में अहर्निश साम्राज्य-विस्तार की भावना हिलोरें लिया करती थीं। युवक सम्राट् की उद्दाम लालसा, उत्कट वीरता, अदम्य शौर्य एवं अत्यधिक विनम्रता तथा वृद्ध महामंत्री की अपरिमेय बुद्धि एवं अपरिमित गम्भीरता के कारण ही सिल्यूकस के ३,००,००० सैनिक प्रतापी मगध-सम्राट् की सेना के समक्ष न ठहर सके। महाराज चन्द्रगुप्तदेव की सेना में ६,००,००० पैदल, ३०,००० घोड़े, ८,००० हाथी तथा ६,००० रथ तथा ४,००,००० भृत्य इत्यादि थे। यहाँ पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्तदेव की सेना के प्रत्येक रथ पर १ रथी के अतिरिक्त २ धनुर्धर तथा ढाल-तलवार लिये १ रक्षक सैनिक रहता था और प्रत्येक हाथी पर १ महावत के अतिरिक्त २ धनुर्धर एवं लम्बी ढाल लिये १ रक्षक सैनिक रहता था। इस प्रकार आप देखेंगे कि महाराज चन्द्रगुप्त मौर्य की सेना के कुल सैनिकों की संख्या १०,९४,००० तक पहुँचती है।

(क्रमशः)

नौकर सा'ब

श्रीयुत 'उग्र'

मा ने कहा—"टिल्लू में लाख ऐब हों, मैंने माना, लेकिन एक गुण भी ऐसा है, जिससे लाखों ऐब ढक जाते हैं—वह नमकहराम नहीं है !"

"मैंने तो कभी नमकहराम कहा नहीं उसे" मैंने जवाब दिया—"वह काहिल है और नौकर को काहिल ही न होना चाहिए। काम तो रो-गाकर वह सभी करता ही है, मगर रोज़ ही झकझक उससे करनी पड़ती है। अब आज ही की लो ! शाम ही से मेरे सिर में दर्द है ! और वह दवा लाने गया है शाम ही से ! देखो तो घड़ी अम्मा ! रात के ६ बज गये ! अच्छा यह तो सिर-दर्द है, अगर कॉलरा होता ? तब तो, टिल्लू ने अब तक बारह ही बजा दिये होते।"

"भगवान् मुद्दई को भी हैज़ा-कॉलरा का शिकार न बनावें।" मा ने सहमकर प्रार्थना और भर्त्सना के स्वर में कहा—"तू भी कैसी बातें कहता है। मैं टिल्लू की क़द्र करती हूँ, यों कि वह सारे घर को अपना समझता है। उसके सामने कोई भी बात बे-डर की जाती है और जा सकती है। सब नौकरों में यह बात नहीं; दूसरे ही दिन—दूसरे अपने मालिक के घर की एक-एक बात गलियों में गाते नज़र आते हैं। टिल्लू तो बिलकुल अपना आदमी है।"

इतने में दवा की शीशी लिये चींटी-चाल वह अंदर दाख़िल हुआ। देखते ही मैं मारे गुस्सा के जल-कर अंगार हो गया—"मैंने तो समझा" मैंने ताना दिया—"तुम्हारे ऊपर मोटरलारी चढ़ गई।"

"चला ही तो आ रहा हूँ" नाक फुलाकर वह बोला—"आदमी आख़िर आदमी है मोटरलारी नहीं बाबूजी।"

"अबे बाबूजी के नाते !" मैंने गाली के लहजे में कहा। जिसे सुन इशारे से मा ने अपशब्द उसे कहने से मुझे मना किया—"शाम का गया-गया अब लौटा है ? सिर की दवा लेने गया था या दारू पीने ?"

"डाक्टर साहब नहीं थे घर पर।" रोआसा होकर उसने कहा—"अभी आये हैं, दवा मिली है तो भागता ही आ रहा हूँ। जब देखो तभी आप मुझ पर उधार खाये बैठे रहते हैं बाबूजी !" वह रोने लगा—"गालियाँ और अबे-तबे मैं नहीं सुनने का। आपके पिताजी—भगवान् उन्हें स्वर्ग में दूध दे ! हमेशा मुझे टिल्लू भैया पुकारा करते थे। मालकिन आज भी मेरी इज़्ज़त करती हैं और आप जब देखो तभी अबे ! अबे ! बाज़ आया ऐसी नौकरी से मैं—भूल चूक—माजी ! मेरी माफ़ करिएगा—अब इस घर में मेरी गुज़र नहीं। इस पकी उम्र में कच्चे-बच्चों की लात मुझसे नहीं सही जा सकती।"

और मा रोकती ही रहीं उसे, लेकिन उस दिन

वह न रुका—उसके अपमान का प्याला शायद मैंने भर दिया था।

× × × ×

दूसरे दिन एक दूसरे नौकर को रखने के लिए मैंने बुलवाया और वह छोटे-सवेरे नीला जाँघिया, बूटेदार पुरानी रेशमी कमीज़ पहन और ख़ूब तेल लगी ज़ुल्फ़ झाड़कर आ गया। उसे नीचे खड़ा कर मैं मा के पास गया—

"देखो मा—देखा? वही विश्वनाथ है। इसी की तारीफ़ें मैं तुमसे किया करता था कि नौकर नहीं, पूरा पढ़ा-लिखा जेण्टिलमैन है। देखो उसकी सफ़ाई—नेकर, कमीज़, सिर के बाल सुथरे। टिल्लू तो जंगली कुत्ते की तरह हमेशा गंदा ही रहा।"

"इसकी जो सफ़ाई तू पसंद करता है" मा ने मुस्कराकर कहा—"उसी को तेरे पिता 'चिकनियाँ-पन' कहा करते थे और ऐसे नौकरों को दरवाज़े पर चढ़ने तक नहीं देते थे। ऊपर से ये जितने चिकने होते हैं, अंदर से उतने ही मैले! टिल्लू आलसी हो, मूर्ख हो, मगर हीरा आदमी है।"

"तुम्हें तो पुरानी ही चीज़ें रुचती हैं अम्मा—टिल्लू तो मेरी नज़र में इस लायक़ भी नहीं कि उसके हाथ से किसी को एक लोटा पानी भी पिलाया जाय—मैल की एक काली परत-सी जमाये रखता है।"

"ख़ैर" मा असन्तुष्ट हुईं—"अब टिल्लू की जान क्यों मारता है, वह तो गया न? विश्वनाथ बड़ा जन्टूमैन है तो रख ले न—मगर, बिना महीना-दो महीना उसका मिज़ाज जाने मैं उसे ज़नाने में न जाने दूँगी सो जान ले।"

"तो क्या केवल अपना काम करने को मैं नौकर रक्खूँ?"

"केवल अपना नहीं" मा ने समझाया—"विश्वनाथ से पहले बाहर का काम ले और उसका मिज़ाज देख—फिर विश्वास मज़बूत होने पर वह अंदर-बाहर दोनों देखेगा।"

× × × ×

विश्वनाथ के बारे में मा को अधिक कठोर देख मैंने उन्हें टिल्लू-पसंद माना और नौकर—उसे रख लिया।

"मेरी मा बड़ी सख़्त हैं—घर के मामलों में" मैंने उसे समझाया पहले ही दिन—"अभी तू ज़नानख़ाने में न जाना—जो ज़रूरत हो बाहर से पुकारकर माँग लेना। अभी कुछ दिन बाहर का काम सँभालो—फिर मा समझ जायँगी।"

"अजी सरकार!" विश्वनाथ बतीसी दिखाकर बोला—"मैंने बहत्तर जगह अब तक काम किये हैं—ऐसा-वैसा होता तो एक जगह एक दिन भी टिक पाता?"

"ख़ैर, बहत्तर जगह काम करने को मेरी मा सर्टि-फ़िकेट न मानेंगी" मैंने गंभीरता से बतलाया उसे—"भले ही मैं यह मान लूँ कि ऐसा आदमी आदमियों के मिज़ाज का पारखी हो सकता है और ऐसा नौकर बेशक़ीमत भी हो सकता है।"

"सो तो" उसने मुस्कान में लपेटकर कहा—"आप ख़ुद ही देखेंगे—काम के लिए बातों की कोई ज़रूरत नहीं।"

"अच्छा" मैंने पूछा—"विश्वनाथ! काम सबसे अच्छा तुम क्या कर सकते हो?"

"हुज़ूर!" उसने जवाब दिया—"वैसे तो जब बचपन से ही नौकरियाँ कर रहा हूँ तो सभी काम करने की हिम्मत रखता हूँ!"

"जैसे लड़ाई-भिड़ाई!" मैंने उसकी दुर्बल देह देखकर संदेह से सवाल किया।

"बस, यही एक काम अपने नहीं कर सकते।" वह हँसा—"ख़ूब हुज़ूर ने सवाल किया कि पहले ही मैं फ़ेल हो गया। बात यह है कि एक बार की लड़ाई में चोरों ने मुझे इतना मारा था कि जब भी पुरवा हवा चलती है—अब भी देह फोड़े-सी दुखती है। तभी तो मैं टूट-सा गया हूँ, नहीं तो सरकार ऐसा मरतिगहा नहीं था विश्वनाथ। दस-पाँच से सटाने के क़ाबिल था।"

"अच्छा, फिर क्या-क्या कर सकते हो?"

"सब कुछ" अकड़कर वह बोला—"यहाँ तक कि लड़ाई-भिड़ाई भी। अजी सरकार! हाथ-पाँव से

तो कूद लड़ा करते हैं—आपकी कृपा से लड़ाई दिमाग़ की लड़ी जा सकती है, जिसमें आप घर बैठे ही रहें और दूसरा मुँह की खा जाय।"

"ख़ूब !"

"और काम ? काम मेरा है नौकरी। हाट-बाज़ार सौदासुल्फ़ मेरा काम। घर की रखवाली मेरा काम—खाना मैं ऐसा पका दूँ कि खाते ही बने। लेकिन सबसे अच्छा मैं जानता हूँ मालिश करना, देह दाबना। इस काम के तो सर्टिफ़िकेट भी हैं मेरे पास सोलह।"

"ख़ूब !" मैंने कहा—"यह बात तुमने ख़ूब बतलाई। मुझे मालिश कराने का बड़ा शौक़ है—टिल्लू को यह काम मुतलक़ नहीं आता था। देह दबाने को कहो तो पीठ या पाँव पर हाथ रखकर वह सोने लगता और बदबू करता था। पास बैठाना मुश्किल। दबाता भी तो सेवा कम और गोबर अधिक पाथता था।"

× × ×

और रात में जब वह देह दबाने लगा—बेशक उसके हाथ इस फ़न में मँजे हुए थे—तब चन्द बातें और करने पर विश्वनाथ का स्वभाव विशेष प्रकट हुआ। मैंने पूछा—

"तुम कहते थे—" टिल्लू को 'तू' कहनेवाला मैं विश्वनाथ को 'तुम' कहता था, वह साफ़-सुथरा जो था—"तुमने रामगनेशदास के यहाँ नौकरी की थी—वहाँ से क्यों छोड़ी ? वह तो बड़ी अच्छी जगह थी।"

"अजी सरकार, दूर के ढोल सुहावने।" मेरी पीठ चाँपते वह कहने लगा—"रामगनेशदास के यहाँ मैंने तीन साल काम किया; मगर आदमी वह बदमाश है—बदमाश।"

"अरे, जिसके पास तुम तीन साल खपे—वह बदमाश !" उचककर मैंने करवट बदल ली विश्वनाथ के इस ढीठ वक्तव्य पर—"रामगनेश कैसे बदमाश हुए आख़िर—?"

"सो आप नहीं जान सकते—सो, तो हम ग़रीब नौकर-चाकर ही जानते हैं। रामगनेश की चार जवान लड़कियाँ हैं हुज़ूर ! और जब किसी नौकर को कई महीने की तनख़्वाह मारकर निकालना होता है—रामगनेशदास या उनकी बीबी किसी-न-किसी लड़की से एक धक्का उस नौकर को लगवा देते हैं—और फिर उसकी चालचलन पर धब्बा !"

"तुम्हारे साथ भी ऐसा ही हुआ होगा ?"

"बिलकुल—! ६ महीने की तनख़्वाह बाक़ी थी—। रुपये साठ नक़द और रामगनेशदास देना नहीं चाहते थे और उन्होंने कहा जाकर बिस्तर ठीक करने में बेटी किशोरी की मदद करो ! अब किशोरी अठारह बरस की पठिया बिस्तर ठीक करने के वक़्त गिर पड़ी मेरी गोद में ! मैंने कहा—'हत ! तू मेरी बहन है।' और लगी साली चिल्लाने—बेशर्म ! विश्वनाथ ने मेरा सीना ज़ोर से दबा दिया !"

विश्वनाथ का क़िस्सा सुनते-सुनते मैं मा की बातें सोचने लगा। सोचने लगा, क्यों उन्होंने देखते ही इस आदमी को अच्छा नहीं समझा। मगर बातें मैं उससे करता ही रहा—

"फिर तो बड़ा हंगामा उठा होगा विश्वनाथ !" मैंने पूछा।

"हंगामा इतने ही का कि ६ महीने की तनख़्वाह बिना लिये विश्वनाथ भाग जाय; मगर विश्वनाथ ने कोई कच्ची गोटियाँ नहीं खेली थीं—मैंने रामगनेशदास से साफ़-साफ़ कहा कि सरकार ! मेरा हिसाब पहले साफ़ कर दीजिए और किशोरी की बात बन्द कीजिए; नहीं तो, मैं ठहरा नौकर आदमी—। अगर बात बढ़ी तो बदनामी किसकी होगी।" फिर वह मुझसे कहने लगा—"अदालत में बात जाती तो मैं कह देता कि मैं जवान, वह जवान; 'वह' मेरी है—दिल लेकर दग़ा कर रही है।"

वह कहता रहा और मैं सोचता रहा कि मा ने तो 'साइकॉलिजी' या मनुष्य-स्वभाव-शास्त्र का अध्ययन किया नहीं; फिर वह इसे घर के अयोग्य कैसे पहचान गई ? और सब कुछ पढ़कर भी मैंने झख मारा। यह तो नौकर नहीं, गुण्डा है—गुण्डा !

मगर उससे मैंने पुनः पूछा—"और मिस्टर गर्ग ? गर्ग तो बड़े समाज-सुधारक, आर्यसमाजी, हिन्दू

सभावाले नेता हैं !—उनसे तुम्हारी क्यों नहीं पटी ?"

"बदमाश हैं हुज़ूर।" उसने मेरा हाथ दबाते हुए कहा—"माफ़ कीजिएगा। आप कहेंगे विश्वनाथ गुस्ताख़ है—ये लीडर और लेक्चर देनेवाले साले पूरे बने हुए होते हैं। मिस्टर गर्ग की 'विडो' भाभी हैं और बीबी है ऐसी मोटी, जैसी हथिनी; और मिस्टर गर्ग दोनों की ख़ातिर करते हैं! अब उन्हें ऐसा नौकर चाहिए, जो मौक़ा देखकर उनके पास जाय या न जाय। एक आर्डर, दो बजे चाय बिना पूछे दो! लेकिन एक-दो बजे आप अपनी भाभी से खेल-हँस रहे थे और विश्वनाथ हो गया बदक़िस्मती से दाल-भात में मूसलचन्द! बस—'अबे बदतमीज़।' उन्होंने अपनी तमीज़ खुल जाने पर गुस्सा ज़ाहिर किया—'आने के पहले खाँसा-खखारा जाता है, खटखटाया जाता है, या भले घर में जब-तब यों ही घुसा जाता है?" मैंने कहा—"आपके हुक्म से चाय लेकर दो बजे हाज़िर हूँ—यह अगर बदतमीज़ी है तो मेरी तनख़्वाह साफ़ कर दीजिए—अपनी नौकरी के लिए एम० ए० पास तमीज़दार खोजिए।"

"मगर ठाकुर रामगोपाल की नौकरी तुमने क्यों छोड़ी? उन्हें तो सारा शहर साधु कहता है? कि वह भी वही बदमाश हैं।" मैंने जम्हाई लेते हुए एक सवाल और किया।

"ठाकुर रामगोपाल में वैसी कोई बुराई नहीं—वह जोरू के गुलाम हैं। औरत के साथ बैठकर खाना खाते हैं। उसी के चुल्लू से पानी पीते हैं। पूरे मजनूँ उस लैला के हैं, जिसका नाम है तो 'चमेली' मगर होना चाहिए था 'काली'। एक सेर लेती है दूध। बीस बार पीती चाय—तिस पर तुर्रा यह—विश्वनाथ, दूध क्या हो जाता है? आख़िर सेरभर दूध कोई समुद्र तो है नहीं कि बाईजी का सारा काम चले। ऐसे ही भाजी मँगावेंगी डेढ़ पैसे की—और परवल! खाने बैठेंगे तो ठाकुर भले न भी चाहें—उसे चाहिए विश्वनाथ, भाजी लाओ! ज़रा ज़्यादा लाना। मतलब नौकर भाजी न खाय। खायँ महज़ भाजी—अजी सरकार, खाने ही के लिए तो अधम चाकरी करते हैं और जब उसी पर मुसीबत हो तो कैसे गुज़ारा हो सकता है? रामगोपाल कैसे भलेमानस हैं, मगर उनकी 'वह'—वह तो नौकरों के सीने पर शेरनी-सी सवार चौबीस घंटे रहती है—मैंने कहा, मेरा हिसाब साफ़ कर दीजिए। ऐसी झिकझिक की नौकरी मुझसे नहीं हो सकती।"

× × ×

पहले ही दिन के अनुभव से विश्वनाथ से मैं तो डर गया और रात को देह दबाने के वक़्त उसके क़िस्से सुनते ही उसी वक़्त उसे निकाल देने की सोचने लगा—मगर बाप रे! वह तो, आदमी नहीं, पूरा समाचार-पत्र है—सनसनीख़ेज़। इसको नौकर रखना तो इसके 'सहस्र-रजनी-चरित्र' में अपने ख़ान्दान का भी एक क़िस्सा जोड़ना होगा।

फिर भी उसी वक़्त उसे निकालने में मैं बदनामी से डरा और मौक़ा देखने लगा। और ऐसे नौकरों की बदतमीज़ी के लिए मौक़ा दूर तक नहीं देखना पड़ता। उसी दिन, शाम को, अपने बाग़ के पीछे मैंने उसे एक नौकर से बातें करते और सिगरेट में चर्स पीते देखा। मैं फाटक के पास ही संयोग से टहलता लताकुञ्ज में छिपा हुआ था। वे मुझे देख नहीं रहे थे।

"कैसी नौकरी है?" उसके दोस्त ने दरियाफ़्त किया।

"यों ही—साग-सत्तू-सी लगती है।" विश्वनाथ ने जवाब दिया—"पुराने ढंग के लोग हैं। यहाँ राग-रंग शायद ही मिलें।"

"मगर और तो सब ठीक है न?"

"ख़ाक-पत्थर, ठीक है" उसने कहा—"तेल में बघारी भाजी, मोटी-मोटी रोटियाँ, दाल है तो भाजी नहीं, भाजी है तो दाल नहीं—घर में दूध-दही सब, मगर नौकर को देखता हूँ कब देते हैं। अड़तालीस घंटे तो काम बजाते हो गये। अभी तक तेल की भाजी, मोटी रोटियाँ—यही समझा!"

"और मिस्टर गर्ग की तरह इस घर में भी पटाख़े हैं?" उसके यार ने पूछा।

"अजी, एक डोकरी है—वही साली सब कुछ है।

नौकरों को विना वैष्णव बनाये घर में दाख़िल नहीं होने देती। पता नहीं, इस घर में शमा है कि गुल।"

एक बात और हुई। तीसरे दिन वह मा के मुँह पर आ गया! वह विश्वनाथ को एक बालटी पानी से पूजा की कोठरी धो देने को कह रही थीं और वह उन्हें निर्भय जवाब दे रहा था कि—"यह काम नौकर का नहीं, भंगी का है। वाह जी, मैंने बहत्तर जगह काम किये, मगर बालटी के पानी और झाड़ू को कभी नहीं छुआ—यह मुझसे न होगा।"

"तब नौकर रखने से फ़ायदा?"—मा को बेशक नागवार लगीं उसकी बातें।

"फ़ायदा तो माजी" उसने उन्हें पुनः धृष्ट उत्तर दिया—"वही जानें" उसका आशय मुझसे था "बाबूजी, जिन्होंने मुझे नौकर रक्खा है। आप तो घोड़े को गधा बना देना चाहती हैं माजी!"

"विश्वनाथ!" दूसरी कोठरी से निकलकर मैंने डाँटा—"इस घर की मालकिन वही हैं; मैं नहीं! मेरी यहाँ एक भी नहीं चलती। अगर तुम ठाकुर की कोठरी साफ़ नहीं कर सकते तो साफ़ बात यह है कि तुम्हारी यहाँ ज़रूरत नहीं।"

"तो लाइए मेरा हिसाब साफ़ कर दीजिए।"

"अभी!"

"मगर विश्वनाथ!" मा ने कहा—"कोठरी न साफ़ करो, नौकरी भी छोड़ दो, लेकिन जाना खाना खा लेने के बाद—हिसाब चाहे जाओ अभी ले लो। भैया, यह तो गृहस्थी है। नौकर-मालिक परिवार की तरह मिलकर रहते हैं और घर के हरएक काम को निस्संकोच कर लेते हैं।"

× × ×

विश्वनाथ को देने के लिए पैसे लाने को जब मैं अपने कमरे की तरफ़ जाने लगा, तब राह में ठाकुरजी की कोठरी में सुना खुरखुर सुर—और देखी टिल्लू की गन्दी शक्ल—वह बड़े गर्व से ठाकुर की कोठरी पानी से धो रहा था। वह अपना महत्त्व समझता था मानो!
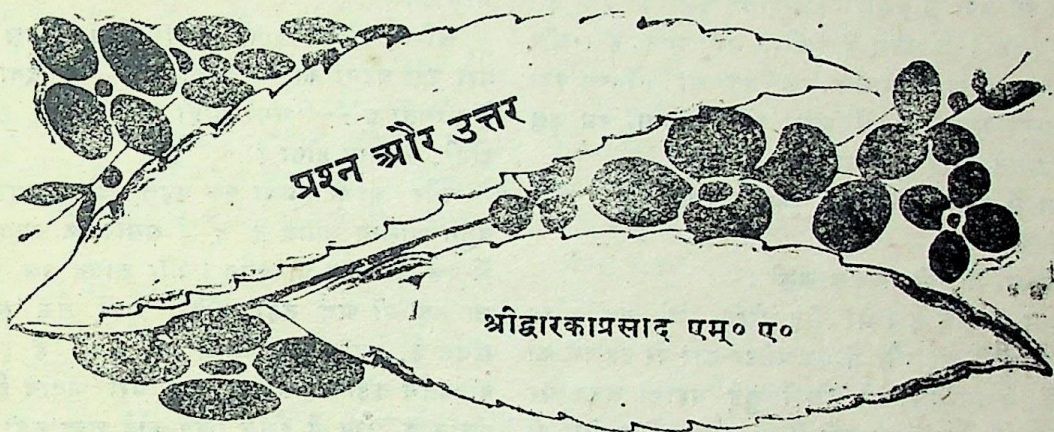
दोपहर के भोजन के बाद लेटा-लेटा लियो टॉलसटॉय का 'My Confession' पढ़ रहा हूँ, और पढ़ते-पढ़ते अचानक रुक जाता हूँ।

टॉलसटॉय लिखता है—"मेरा सवाल,—जिसने ५० साल की उम्र में मुझे आत्म-हत्या के नज़दीक पहुँचा दिया,—एक बहुत ही सीधा और आसान सवाल था, जो मूर्ख बच्चे से लेकर एक बड़े अक़्लमन्द बुज़ुर्ग तक सबकी आत्मा के अन्दर पड़ा रहता है। यह एक ऐसा सवाल था, जिसका जवाब दिये बग़ैर कोई जी नहीं सकता, जैसा कि मैंने तजुर्बे से समझा है। सवाल यह था—मैं आज जो कुछ कर रहा हूँ, या कल जो कुछ करूँगा, उसका नतीजा क्या निकलेगा—मेरी सारी ज़िन्दगी का क्या नतीजा निकलेगा?"

और मैं रुक जाता हूँ। मैं आगे बढ़ना चाहता हूँ, लेकिन बढ़ नहीं सकता। मैं नहीं जानता, आगे टॉलसटॉय ने क्या लिखा है, उसे इस सवाल का क्या जवाब मिला, अथवा कभी जवाब मिला भी।

लेकिन क्या एक नहीं, हज़ारों बार मेरी ज़िन्दगी में, मेरी ही क्यों, मेरी ही तरह सैकड़ों की ज़िन्दगी में, यही सवाल नहीं उठा है? और क्या हम इस सवाल को ठीक से समझने के लिए ठहरे हैं? या इसका जवाब पाने की कोई कोशिश की है?

ठीक तो, मेरी सारी ज़िन्दगी का क्या नतीजा निकलेगा?

मैं लिख रहा हूँ। सामने आईना रक्खा हुआ है, जिसमें मेरी पत्नी का फ़ोटो प्रतिबिम्बित होकर कभी-कभी मेरी ओर घूर रहा है। मैं यह जानता हूँ कि इसके साथ मेरा कोई संबंध है। यह टेबुल, यह कुर्सी, यह कमरा, सभी के साथ मेरा संबंध है। लेकिन इन सबके अलावा भी मेरा एक अस्तित्व है, इन सबसे अलग, मेरी स्त्री से अलग, मेरे दोस्तों से अलग, मेरे बाप-मा से अलग, भाई-बहन से अलग। वहाँ केवल मेरी ज़िन्दगी है। वहाँ मैं अकेला हूँ—और मेरा सवाल है, मेरी सारी ज़िन्दगी का क्या फल है, क्या अर्थ है?

और, तब मैं अपने वर्तमान को देखने लगता हूँ। लेकिन ठहरो, इस वर्तमान के पीछे एक भूत और इसके

सामने एक भविष्य है। तुरत का भूत और तुरत का भविष्य ही तो मिलकर वर्तमान है। और इस वर्तमान में मेरा प्रश्न है।

किन्तु तुरतवाले को छोड़ दूर का भी तो मेरा भूत है, वहाँ तक का, जहाँ मेरा जन्म हुआ था,—नहीं, जहाँ सारी मानव-जाति का जन्म हुआ था। न जाने कितने सौ वर्षों से हमारी ज़िन्दगी चली आ रही है। हम पैदा होते हैं, जीते हैं और मर जाते हैं। और अभी, इस क्षण के सामने एक बड़ा-सा भविष्य पड़ा है, जिसके संबंध में मैं कुछ नहीं जानता, हम कुछ नहीं जानते, कोई कुछ नहीं जानता।

तब मैं इसका विश्लेषण करने लगता हूँ, और देखता हूँ—

लेकिन, मैं वहीं से शुरू करूँ।

शाम का वक़्त है। मेरे तीन दोस्त, मेरे एक दोस्त की बहू, मेरी स्त्री और मैं एक मोटर-कार पर टहलने को निकले हैं। जंगलों से घिरी हुई पहाड़ी सड़क पर मोटर चक्कर काटती जा रही है। हमारे मित्र ऐसे ही गुज़रे दृश्यों की याद में अपनी वाक्शक्ति ख़र्च कर रहे हैं। अचानक एक बड़ा-सा मोड़ आता है, जहाँ पर रास्ता बेमौक़े एक लम्बा घुमाव लेता है। थोड़ा-थोड़ा अँधेरा हो चुका है और रोशनी नहीं जलाई गई है। एक ज़ोर का धक्का लगता है और चाँय-से ब्रेक की आवाज़ होती है। सभी की साँस जैसे कुछ क्षणों के लिए बन्द हो जाती है, और जब मैं बोलता हूँ तो जैसे लोगों का ध्यान भंग होता है—"क्या हुआ ?" और तब जैसे सबको होश-सा आता है—कुछ हो गया।

और गाड़ी सर-सर चली जा रही है।

सब इस आलोचना में लगे हैं कि अगर सचमुच ही गाड़ी उलट गई होती तो क्या होता ? जानो इसके आगे कोई सोच ही नहीं सकता हो। कोई यह नहीं कहना चाहता कि क्या होता !

मैंने कहा—"होता क्या ? उस क्षण हम थे, इस क्षण हम नहीं होते।"

मेरे मित्र की बीबी (जिसे मैं भाभी कहा करता हूँ) ने कहा—"ऐसा नहीं कहना चाहिए।"

मेरे दोस्त ने कहा—"अपनी वाइफ़ से पूछो। अभी शादी के ज़्यादा दिन नहीं हुए।"

इसके बाद बहुत-सी बातें हुईं। मैं चुप नहीं हो गया, कोई बात उठ पड़ने पर चुप हो रहने की मेरी आदत ही नहीं। मैंने बहुत कुछ कहा, और मुझे यह पाकर नाख़ुशी हुई कि मेरे दोस्तों ने मेरी बात मान ली।

लेकिन टॉलस्टॉय की ज़िन्दगी का सवाल फिर से मेरी उस घटना की स्मृति को ताज़ा कर देता है और मैं सोचता हूँ—"अगर गाड़ी सचमुच ही उलट गई होती, तो क्या होता ?"

और क्या मैं इसका एक बहुत छोटा, बहुत सीधा, बहुत आसान जवाब दे दूँ ? संसार के व्यवस्था-क्रम में एक छोटा-सा परिवर्तन। और शायद इस परिवर्तन का कुछ भी अर्थ नहीं होता, जहाँ तक संसार का संबंध है, जहाँ तक प्रकृति का संबंध है। मैंने इसे परिवर्तन कहा है, लेकिन यह मेरा जवाब है, शायद प्रकृति के राज्य में इसके लिए कोई शब्द नहीं, क्योंकि ऐसी कोई चीज़ ही नहीं।

चलते-चलते मैं यह कह दूँ कि प्रकृति के लिए परिवर्तन नाम की कोई चीज़ ही नहीं। हर कुछ प्रकृति के लिए सत्य है, जो है, सो है। जो था वह भी और जो होगा वह भी उसके लिए समान है। परिवर्तन होता है, लेकिन उन छोटी चीज़ों के दृष्टि-बिन्दुओं से, जो इसके द्वारा प्रभावित हुई हैं। अन्यथा प्रकृति में और प्रकृति के लिए सब कुछ, केवल, है।

और मेरे मित्र की पत्नी की उस छोटी-सी ताड़ना और मेरे मित्र के उस छोटे-से व्यंग्य में जो एक संसार भरा है, तो क्या उसका कुछ अर्थ नहीं ?

टॉलस्टॉय यहीं पर चक्कर खा रहा है। सारी दुनिया यहीं पर घूम रही है।

स्वभावतः ही इस प्रश्न का अर्थ होता है,—मैं क्यों जियूँ ? और अगर मेरे जीने का कोई तात्पर्य निकल आता है, तब तो गाड़ी के उलट जाने से होनेवाले परिवर्तन का महत्त्व बहुत बड़ा हो जाता है।

यहाँ पर मैं अपने पाठकों से माफ़ी चाहूँगा; क्योंकि मैं जानता हूँ, कोई न कोई इसे अवश्य पढ़ेगा—अगर

मेरी बातें थोड़ी दार्शनिक-सी लगें। मैं इन्हें साफ़ से साफ़ तौर पर आपके सामने रखने की कोशिश कर रहा हूँ।

अगर हम एक प्राणिशास्त्रविद् की दृष्टि से देखें तो यह कहना पड़ेगा कि प्रकृति के कुछ ख़ास नियम हैं, जिनके ठीक तरीक़े से कार्य करने के प्रमाण-स्वरूप हर कुछ पैदा होता है, ख़ास तरह के हवा-पानी में जीता है और फिर सप्राण से निष्प्राण हो जाता है।

दूसरे शब्दों में, हम पैदा होते हैं, इसलिए नहीं कि हम पैदा होना चाहते हैं, बल्कि इसलिए कि हमें पैदा होना पड़ता है और हम मरते हैं, इसलिए नहीं कि हम मरना चाहते हैं, बल्कि इसलिए कि हमें मरना पड़ता है।

और इस पैदा होने और मरने के बीच की भी एक अवस्था है, जिसे हम जीना कहते हैं। हमारी सारी समस्या इसी अवस्था के बीच झूलती है।

जन्मने पर हमारा हक़ नहीं, मरने पर कोई अधिकार नहीं, इसलिए वह हमारे क्षेत्र के बाहर है।

परन्तु क्या मज़े की बात है कि टॉलसटॉय का भी प्रश्न इन्हीं पैदा होने और मरने की बातों पर ज़्यादा ध्यान रखता है।

टॉलसटॉय ने एक कहानी का उद्धरण इसी confession में कहीं पर दिया है।

एक आदमी किसी भयावह जानवर से भागकर एक कुएँ में कूदना चाहता है। नीचे देखता है, कुएँ में एक बड़ा अज़दहा उसे निगलने को मुँह बाये हुए है। वह कुएँ में एक पेड़ की शाखाएँ पकड़कर लटक जाता है। ऊपर आ नहीं सकता, जानवर है, नीचे कूद नहीं सकता, अजगर है। पेड़ पर एक शहद के पत्ते से बूँद-बूँद शहद टपक रहा है। वह उसे ज़बान पर लेकर पीता है, मीठा मालूम होता है। अचानक वह क्या देखता है कि दो चूहे, एक काला, एक सफ़ेद, उस पेड़ की जड़ को काट रहे हैं। वह जान जाता है, जड़ कटी और उसके बचने की कोई आशा नहीं।

टॉलसटॉय लिखता है—"और तब से वह शहद भी मुझे मीठा—अच्छा—नहीं लगने लगा।"

लेकिन मैं पूछता हूँ—"क्यों?"

प्राणिशास्त्र इसका कोई जवाब नहीं दे सकता। प्रकृति यहाँ पर मौन है। उसके लिए तो अजगर, जानवर, चूहे और शहद सभी सत्य हैं, सभी एक हैं। शहद का अच्छा लगना न लगना उस आदमी की ज़बान—उसके अपने मन पर निर्भर है।

यही शहद हमारी ज़िन्दगी है।

तब हमें जीवन-मृत्यु की व्याख्या मानवी दृष्टि से करनी पड़ती है। हम कहते हैं—

चाहे जिसने भी जन्म दिया, जीना हमें पड़ता है। मरना भी हमें ही पड़ता है। और यद्यपि हमें याद नहीं, पैदा होते वक़्त हमने क्या महसूस किया था, लेकिन इतना हम जानते हैं कि जीने के लिए केवल जीवन ज़रूरी नहीं, बहुत-सी चीज़ों की आवश्यकता होती है, बहुत-सा अवस्थाओं से होकर गुज़रना पड़ता है और मर जाने से हमारा बहुत-सा प्रोग्राम गड़बड़ा जाता है। याद रहे, हम यह नहीं कह सकते कि मौत से हमें तकलीफ़ होती है; क्योंकि हम कभी मरे नहीं। हाँ, मर जाने—अभी हैं, और अभी नहीं—के ख़याल से हमें तकलीफ़ ज़रूर होती है।

और तभी हमें सोचना पड़ता है—"मैं आज जो कुछ कर रहा हूँ या कल जो कुछ करूँगा, उसका नतीजा क्या निकलेगा—मेरी सारी ज़िन्दगी का क्या नतीजा निकलेगा?"

यदि हम ज़रा होशियारी से देखें तो—हमें पता चलेगा, हमने अपने सवाल का जवाब तरह-तरह से अपने सवालों में ही दे दिया है।

मैं थोड़ा और साफ़ कर दूँ इसे।

चूँकि हम अनुभव कर सकते हैं, न केवल हमें अनुभूति होती है, बल्कि चूँकि हमारे अंदर विचार करने की भी शक्ति है, इसलिए ही ये सारे प्रश्न सामने आते हैं। अन्यथा जन्म लेना, एक ख़ास समय तक एक ख़ास तरीक़े का रूप रखना फिर मर जाना, इन प्राकृतिक सत्यों में कुछ खोजने का नहीं, पूछने का नहीं।

अतएव हमें कहना पड़ेगा कि चूँकि हम सोच सकते हैं, हम अपने चारों ओर देखते हैं, अपने लिए कार्यक्रम निश्चित करते हैं, प्रोग्राम बनाते हैं, और

हमारे सारे प्रश्नों का केन्द्र, अथवा मूल यही प्रोग्राम है।

थोड़ी देर के लिए अंदाज़ कीजिए कि आप एक पत्थर के टुकड़े हैं। आपकी ज़िन्दगी में तीन बातें हैं, आप हुए, रहे, फिर नहीं रहे। क्या फिर भी वहाँ आपका सवाल आता है—मेरी ज़िन्दगी का अर्थ क्या? आप तो प्रकृति के अंदर की एक चीज़ हैं, चाहे जिस अवस्था में भी वह आपको रक्खे।

मानव-जीवन भी ठीक वैसा ही है। फ़र्क़ केवल इतना ही है कि पत्थर सोचता नहीं, इसलिए दुःख नहीं उठाता, आप सोचते भी हैं, अनुभव भी करते हैं, इसलिए दुःख भी उठाते हैं और न जाने तरह-तरह के क्या-क्या करते हैं।

और आपकी ज़िन्दगी और उसका प्रोग्राम तब एक हो उठते हैं।

यहाँ पर मैं फिर भूत और भविष्यत् की ओर इशारा कर दूँ। आपका भूत आपके भविष्य के लिए बने हुए प्रोग्रामों की वह तालिका है, जिसमें न केवल उनके ही चिह्न हैं जो या तो पूरे हो गये, या पूरे नहीं हुए, बल्कि ऐसी भी चीज़ों के चिह्न हैं, जिन्हें आपने अपने प्रोग्राम में कहां जगह नहीं दी थी। आपका भविष्य आपका आनेवाला प्रोग्राम है, जिसे आपने सामने के लिए रख छोड़ा है। और आपकी वास्तविक ज़िन्दगी इन्हीं भूत और भविष्य का सन्धि-स्थल है। आप इसी वर्तमान में सोचते हैं, स्मरण करते हैं, प्रोग्राम बनाते हैं और सुख या दुःख का अनुभव करते हैं। इसी वर्तमान में आपका प्रश्न होता है—"जो मैंने कल किया है, या जो कल करूँगा, उसका क्या नतीजा निकलेगा?"

आप पीछे भयावह जानवर देखते हैं, आगे अजगर देखते हैं, और देखते हैं कि दो काले और उजले चूहे आपको अजगर के मुँह की ओर ढकेल रहे हैं, आपके सामने मौत खड़ी है, और आपको मरना है। आपको तकलीफ़ होती है। "मैं मर जाऊँगा?" और आप डर जाते हैं। मनुष्य का सबसे बड़ा यही भय है।

और इसी लिए मेरे मित्र और मेरी भाभी यह विचार भी नहीं बर्दाश्त कर सकतीं कि गाड़ी उलट जाती तो केवल एक अवस्था का परिवर्तन एक दूसरी अवस्था का निर्माण कर देता।

क्यों?

इसलिए कि उस वर्तमान को हम भूल नहीं सकते, जो हमारा जीवन है। हम उसी भविष्य को हमेशा सामने रखते हैं, जो हमारा प्रोग्राम छोड़ और कुछ नहीं। हमें इसलिए डर होता है कि हमारा सारा कार्य-क्रम अधूरा रह जायगा। और इसलिए जो शहद मीठा लगना चाहिए था, वह स्वाद-रहित हो जाता है।

मैं यह नहीं कहता कि आपकी ज़िन्दगी का कोई प्रोग्राम नहीं हो, मैं यह नहीं कहता कि भविष्य के लिए आप कोई कार्य-क्रम नहीं ठीक करें। यह सब तो करना ही पड़ेगा, इसलिए करना पड़ेगा कि ये प्राकृतिक, सांसारिक, आवश्यकताएँ हैं। लेकिन मैं केवल यही कहता हूँ कि आप इन सारी चीज़ों की सचाई को समझें, इसे हमेशा अपने सामने रक्खें। आप यह विश्वास रक्खें कि आप जो कुछ करना चाहते हैं वह बहुत अच्छा है, जो नाश का घर आप बना रहे हैं, उसका अधूरा हिस्सा भी आप बनावेंगे। लेकिन अगर आप उस हिस्से को नहीं बना सकें, तो उसके लिए अफ़सोस नहीं होना चाहिए।

अभी दो-तीन दिन हुए मेरे एक मित्र की चिट्ठी आई है, जिसमें उसने लिखा है—"मेरी एकमात्र अपनी बहन की मृत्यु हो गई है। मैं अफ़सोस मना रहा हूँ। मेरा चेहरा उदास है।....मैं जानता नहीं, किस तरह अफ़सोस करूँ?

"भैया ने तो जब यह ख़बर सुनी तो दो दिन तक नहीं खाया। मैं बाहर जाकर खा लिया करता था,—के घर, चुपके-चुपके।"

शायद आप कहें, यह शख़्स या तो पागल है, या फिर एकदम हृदयहीन। शायद आपकी दृष्टि से दोनों ही बातें ठीक हों। लेकिन मैं अपने दोस्त को जानता हूँ, और जानता हूँ वह अपनी इस बहन को जितना प्यार करता था। उसकी ज़िन्दगी में भी इस एकमात्र बहन के लिए बहुत प्रोग्राम था। लेकिन जब अचानक—असमय ही—यह बहन उठ गई,

उसका प्रोग्राम धूलिसात् हो गया, तो वह नहीं जानता क्यों, उसे अफ़सोस नहीं होता, दुःख नहीं होता।

लेकिन मैं यह कहने की हिम्मत कर सकता हूँ—वह अब भी इसलिए निर्लिप्त है कि वह अपने प्रोग्राम का महत्त्व जानता है, इसकी सत्यता जानता है, जानता है, भविष्य का वास्तविक मूल्य क्या है।

आप भी अपने भविष्य का वास्तविक मूल्य समझ लें, फिर आपके सामने यह प्रश्न ही पैदा नहीं होगा—"मेरी ज़िन्दगी का क्या नतीजा निकलेगा?"

'विभावना' अलंकार

श्रीरघुनाथप्रसाद चतुर्वेदी साहित्य-शास्त्री

यदि मैं भूल नहीं रहा हूँ, तो व्रज-भाषा के प्रसिद्ध विद्वान् श्रीजवाहरलालजी चतुर्वेदी के कमरे में, हिंदुस्तानी एकेडेमी की त्रैमासिक पत्रिका के किसी अंक में, किसी प्रसिद्ध लेखक के श्रीनन्ददासजी के छंदों में, अलंकारों का निर्देश करनेवाले एक लेख के जिस उदाहरण में चौथी विभावना बतलाई गई थी, पढ़ने पर महान् संदेह हुआ और आश्चर्य भी।

संदेह के निराकरण के लिए हिंदी-साहित्य के स्थानीय प्रसिद्ध विद्वान् का अलंकार-विषयक एक विशालकाय ग्रंथ देखने पर भी भ्रम का निवारण तो न हुआ, प्रत्युत वह और भी दृढ़मूल हो गया। "मरज़ बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की"। संदेह को दूर करने के लिए मैं जैसे-जैसे चेष्टा करता गया, तैसे-तैसे निरन्तर मेरी भ्रम-वल्लरी का विकास ही होता गया, जिसने कि मुझे कुछ आड़ा-टेढ़ा लिखने के लिए प्रोत्साहित किया है।

अभी तक तो मुझे आधुनिक हिंदी-साहित्यिकों की उपलब्ध कुछ पुस्तकों में ही इस प्रकार की भूल दृष्टि-गोचर हुई थी। लगातार देखने से पता चला कि हिंदी-रीतिग्रंथों के रचयिताओं की कुछ रचनाओं में भी यही भूल की गई है।

मैं भी हिंदी-साहित्य के आचार्यों द्वारा की गई इस भूल के अन्तस्तल में पहुँचने के लिए चेष्टा करता रहा। अन्वेषण करने पर ज्ञात हुआ कि हिंदी-साहित्य के अधिकांश मूलभूत कुवलयानन्दकार अप्पय दीक्षित ने पहलेपहल इस प्रकार की भूल करते हुए छः प्रकार की विभावना स्वीकार की है तथा हिंदी-साहित्य के कुछ आचार्यों ने दीक्षितजी के कुवलयानन्द का अनुसरण किया है। इसी लिए उनसे इस प्रकार की भूल हुई है। हिंदी-आचार्यों की परम्परा का अनुसरण करनेवाले हमारे आज के हिंदी-साहित्यिकों की भूल का कारण रीति-ग्रंथों के रचयिता हिंदी के कुछ आचार्य हैं।

आजकल बड़े-बड़े विश्व-विद्यालयों एवं एम्० ए०, बी० ए०, साहित्य-रत्न आदि ऊँची-ऊँची परीक्षाओं के हिंदी-पाठ्य-क्रम में जिन साहित्य-ग्रंथों का अध्ययन कराया जाता है, वे सभी आधुनिक साहित्य-धुरीणों के बनाये हुए हैं। उन्हें पढ़कर ही बड़ी-बड़ी उपाधियों के धारण करनेवाले डी० लिटों से इस प्रकार की भूल होना कोई विशेष आश्चर्य-जनक नहीं; क्योंकि उन्होंने तो अपने आचार्यों द्वारा निर्मित दृढ़ पद्धति का असंदिग्ध रूप में अनुसरण किया है, वे क्या जानें कि हमारे आधारभूत ग्रंथकार ही पहले गर्त में जाकर गिरे हैं।

हिंदी-साहित्य के प्रारम्भिक जीवन-काल में, संस्कृत-साहित्य के रीति-ग्रंथों की दो शैलियाँ प्रचलित थीं।

पहली काव्य-प्रकाश की विस्तृत एवं दुरूह आलोचनात्मक शैली, दूसरी चन्द्रालोक एवं कुवलयानन्द की संक्षिप्त शैली। हमारे हिंदी-साहित्य के अधिकतर आचार्यों ने पहली शैली को छोड़कर दूसरी शैली को ही अपनाया है, जो अधिकांश संदिग्ध है।

उस शैली का अनुसरण करते हुए उन्हें आवश्यक तो यह था, कि उसके गुण-दोषों का भी विवेचन करते। अथवा संस्कृत-साहित्य के उन ग्रंथों का अध्ययन करते, जिन्होंने कुवलयानन्द-जैसे भ्रान्ति-मूलक ग्रंथों का खंडन किया है। किंतु किसी कारण उन्होंने वैसा नहीं किया, अन्यथा उनसे इस प्रकार की भूलों का होना असंभव था।

सत्रहवीं शताब्दी के मध्य भाग में पंडितराज जगन्नाथ ने अपने रसगंगाधर ग्रंथ में अप्पय दीक्षित के कुवलयानन्द का मार्मिक खंडन किया है तथा अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में मम्मट के काव्य-प्रकाश की सुधासागरी टीका के निर्माता भीमसेन दीक्षित ने तो पूरे कुवलयानन्द के खंडन में "कुवलयानन्द-खंडन" नाम का एक ग्रंथ ही प्रस्तुत कर दिया है, जिससे इसकी उपादेयता का पता चल जाता है।

यों तो हिंदी-साहित्य में भी अलंकार-ग्रंथों की रचना का आरम्भ विक्रमीय संवत् ७०० से ही हो गया था, जैसा कि श्रीशिवसिंह सेंगर ने अपने शिवसिंह-सरोज में पुष्य नाम के किसी कवि द्वारा दोहों में बनाये गये किसी अलंकार ग्रंथ का उल्लेख किया है, किंतु हिंदी-साहित्य में ठोस रीति-ग्रंथों के निर्माण का सुवर्ण-युग विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी से माना जाता है।

सत्रहवीं शताब्दी के पूर्व-भाग में कविवर केशवदासजी ने सर्व-प्रथम दंडी के 'काव्यादर्श', राजानक रुय्यक के 'अलंकार-सर्वस्व', केशवमिश्र के 'अलंकार-शेखर' का अधिकांश आधार लेकर हिंदी में रीति-ग्रंथों के निर्माण का सूत्रपात किया।

अठारहवीं शताब्दी में हिंदी में रीति-ग्रंथों की रचना का बाढ़-सी आ गई। इसी समय कविभूषण भूषण ने 'शिवराजभूषण', मतिराम ने 'ललित-ललाम', भिखारीदास ने 'काव्य-निर्णय', पद्माकर ने 'पद्माभरण', लछिराम ने 'रामचन्द्र-भूषण' तथा और भी अनेक कवियों ने अनेक ग्रंथ संस्कृत की संक्षिप्त शैली के आधार पर बनाये।

सत्रहवीं शताब्दी के उत्तर-भाग में चन्द्रालोक एवं कुवलयानन्द का अनुसरण करते हुए महाराज जसवन्तसिंह ने भाषा-भूषण नाम का प्रसिद्ध ग्रंथ बनाया।

संस्कृत की सदोष-शैली के आधार पर बने हुए उक्त ग्रंथों में मूल-ग्रंथों के दोषों का आना तो अनिवार्य ही था, अतः हिंदी के बहुत-से ग्रंथ उन दोषों के आपात से अपने आत्मा को बचाने में असमर्थ ही रहे, उन्हें दूषित रूप में ही जनता के सम्मुख उपस्थित होना पड़ा, जिससे कि आधुनिक साहित्यिकों को दूषित प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिल रहा है।

अलंकार-शास्त्र के अधिक गहन होने के कारण सूक्ष्म-दृष्टि से निरीक्षण करने पर ही उनके वास्तविक भेद का ज्ञान होना संभव है। उनके पारस्परिक भेदों में अत्यन्त साधारण अन्तर रहता है। कदाचित् विचार-बुद्धि से काम न लिया जाय, तो बड़ी-से-बड़ी भूलें हो सकती हैं। सहज ही एक अलंकार दूसरे अलंकार के रूप में दिखाई पड़ने लगता है।

प्रत्येक अलंकार का निर्णय उसके साधक-बाधकों के ऊपर निर्भर है। साधक-बाधकों के द्वारा ही किसी उदाहरण में आपाततः भासित होनेवाले अनेक अलंकारों में से किसी एक का निश्चय किया जा सकता है। जब तक किसी उदाहरण में अलंकारों के पृथक्करण का कोई साधक या बाधक नहीं होगा, तब तक वह किसी एक अलंकार का विषय कैसे माना जा सकेगा, वहाँ पर तो संदेह-संकर का ही प्राधान्य रहेगा।

वस्तुतः मौलिक अलंकार बहुत थोड़े हैं। जहाँ पर अलंकारों का साधारण भेद भी चमत्कारातिशय का जनक हो, वहाँ भिन्न अलंकार मानने में कोई आपत्ति नहीं। किन्तु किसी प्रकार की चमत्कृति के न होने पर भिन्न अलंकार मान लेना अयुक्ति-संगत ही नहीं-अयोग्य भी है।

मेरा प्रस्तुत विषय, विभावना अलंकार को छः प्रकार का मानकर उसके उदाहरणों के रूप में दिये

गये अयोग्य छन्दों की अयुक्तता का दिग्दर्शन कराना मात्र है। इसका विचारशील पाठक स्वयं निर्णय करें कि विभावना के उदाहरणों में लिखे गये छन्दों में विभावना कहीं लेशमात्र भी भासित होती है। यदि मैं छहों प्रकार की विभावना पर लिखता हूँ तो लेख अप्रत्याशित रूप से बहुत बढ़ जाता है। इसलिए पहले में चौथी विभावना को ही पाठकों के समक्ष उपस्थित कर रहा हूँ, जिसका विषय अधिक विवाद-ग्रस्त है। फिर कभी इसके दूसरे भेदों पर प्रकाश डाला जायगा।

क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना।

—काव्यप्रकाश

विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते।

—साहित्यदर्पण

विभावना विनापि स्यात्कारणं कार्यजन्म चेत्।

—चन्द्रालोक

आदि-आदि लक्षणा के अनुसार कारण के अभाव में कार्योत्पत्ति कथन को विभावना कहते हैं।

हिन्दी-साहित्य-ग्रन्थों के आधार कुवलयानन्दकार ने इस विभावना को छः भेदों में विभक्त किया है—

कारण के अभाव में कार्य उत्पन्न होने पर पहली।

अपूर्ण कारण से कार्य उत्पन्न होने में दूसरी।

प्रतिबन्धक के रहते हुए कार्य उत्पन्न होने में तीसरी।

भिन्न कारण (अकारण) से कार्य उत्पन्न होने में चौथी।

विरुद्ध कारण से विरुद्ध कार्य उत्पन्न होने में पाँचवीं।

तथा का ' से कारण के उत्पन्न होने में छठी।

इसके चौथे भेद का मूल-लक्षण इस प्रकार है—

अकारणात्कार्यजन्म चतुर्थी स्याद्विभावना।
शंखाद्वीणानिनादोऽयमुदेति महदद्भुतम्॥

यहाँ दीक्षितजी ने शंखरूप भिन्न कारण से वीणा की ध्वनि निकलने पर चौथी विभावना स्वीकार की है। लोक में वीणा से ही वीणा की ध्वनि निकलती है, शंख से नहीं ; किन्तु दीक्षितजी यहाँ उसे शंख से निकाल रहे हैं, अतः आपके मतानुसार चौथी विभावना स्पष्ट है। ऐसे स्थान पर चौथी विभावना को बतलाते हुए दीक्षितजी महाराज ने इस बात का तनिक भी विचार नहीं किया कि जिसे आप शंख समझ रहे हैं, वास्तव में वह शंख नहीं है, वह तो किसी कामिनी का कलकंठ है तथा न वह वीणा की ध्वनि ही है। वह भी किसी कोकिल-कंठी के कल-कंठ का सुमधुर आलाप-मात्र है। यदि आप अपने किसी ऐन्द्रजालिक (तिलिस्मी) वास्तविक शंख से वीणा की ध्वनि निकालने लगेंगे, तो हमें बरबस आपकी चौथी विभावना स्वीकार्य होगी। जैसी कि—

"पश्य लाक्षारसासिक्तं रक्तं त्वच्चरणद्वयम्।"

इस पद्यार्ध में विना महावर लगाये भी पैरों के लाल होने पर विभावना मानना हमारा अभिमत है। अतः यहाँ वीणा की आवाज़ का, किसी कामिनी की सुमधुर ध्वनि से, तथा शंख का उसके कंठ से, भेद रहते हुए अभेद वर्णन करना भेद में अभेदरूपा रूपकातिशयोक्ति का ही उदाहरण हो सकता है, विभावना का नहीं।

मालूम पड़ता है, उक्त उदाहरण में विभावना की भ्रान्ति से बैठी हुई रूपकातिशयोक्ति ने अपने अस्तित्व से आपको भी प्रभावित कर दिया, इसी लिए आपको दूसरे उदाहरण के देने की आवश्यकता का अनुभव हुआ, किन्तु आप उसमें भी कृतकार्य नहीं हुए। पाठक आपकी उदाहरण-प्रदान-कुशलता को ध्यानपूर्वक देखें—

तिलपुष्पात् समायाति वायुश्चन्दनसौरभः।
इन्दीवरयुगाच्चित्रं निःसरन्ति शिलीमुखाः।

तिल के पुष्प से उसी की गंध न निकलकर जो चन्दन के समान सुगन्धित वायु निकल रहा है तथा नीले कमल-युगल से उसी की ख़ुशबू न निकल-कर जो बाण निकल रहे हैं, दीक्षितजी के कथनानुसार वही भिन्न कारण से कार्योत्पत्ति-कथनरूपा विभावना है। वास्तव में आपकी विभावना बड़ी बलवती है। अतिशयोक्ति अपने स्थान में प्रविष्ट होने से उसे रोकती है कि यह तेरा स्थान नहीं है, व्यर्थ प्रविष्ट होने की चेष्टा न कर, नहीं तो तेरे कारण तेरे प्रवेशक पर भी बौछारें पड़ेंगी, किन्तु वह मानती ही नहीं, "सौ-सौ धक्के खायँ तमाशा घुसकर देखें" वाली उक्ति को चरि-

तार्थ कर रही है। पाठकों को दीक्षितजी से कहना चाहिए कि महाराज आप अपनी नूतन बगिया के तिलपुष्पों से चन्दन के समान सुगन्धित वायु को निकालकर सरोवर में खिले नीले कमल-युगल से बाणों की वर्षा करने लगेंगे, तो हमारे लिए आपकी चौथी विभावना शिरोधार्य होगी, अन्यथा आपकी भूल जनता कैसे स्वीकार कर सकेगी ? जनता को तो वहाँ नायिका की नासिका में तिल-पुष्प का, उसके श्वास में चन्दन के समान सुगन्धित वायु का, उसके नेत्रों में नीले कमल-युगल का एवं कटाक्षों में तीरों का भेद रहते हुए भी जो अभेद अध्यवसित होता दिखाई दे रहा है, वह भेद में अभेद-रूपा रूपकातिशयोक्ति ही हो सकती है, विभावना नहीं। यदि इस प्रकार के अतिशयोक्ति के स्पष्ट उदाहरणों में आप विभावना को ही स्वीकार करेंगे, तो अतिशयोक्ति का समूल उन्मूलन हो जायगा, जो सहृदय-समाज को किसी भी प्रकार मान्य न होगा।

अप्पय दीक्षित का कुवलयानन्द जयदेव के चन्द्रालोक की स्वतन्त्र टीकामात्र है। आपने जयदेवजी से भिन्न भी कुछ अलंकार-भेद माने हैं। जयदेवजी की भेद में अभेद-रूपा रूपकातिशयोक्ति के उदाहरण को आप अपनी चौथी विभावना के उदाहरण में रखकर कैसी हाथ की सफ़ाई दिखला रहे हैं। पाठक आपकी दक्षता को देखें—

रूपकातिशयोक्तिश्चेद्रूप्यं रूपकमध्यगम्।
पश्य नीलोत्पलद्वन्द्वान्निःसरन्ति सिताः शराः॥

इस पद्य के उत्तरार्ध में नायिका के नेत्रों से नीला कमल-युगल तथा कटाक्षों से पैने बाण अभिन्न बतलाये गये हैं। अतः यहाँ जयदेवजी की रूपकातिशयोक्ति है। तथा—

अकारणात्कार्यजन्म चतुर्थी स्याद्विभावना।
इन्दीवरयुगाच्चित्रं निःसरन्ति शिलीमुखाः॥

इस पद्य के उत्तरार्ध में वही सब बात होने पर भी दीक्षितजी की चौथी विभावना है ! इसका निर्णय तो सहृदय पाठक ही कर सकेंगे कि कौन भूल कर रहा है, मूलकार या टीकाकार ? शब्द और अर्थ में तो लेश-मात्र भी अन्तर नहीं है।

मूलकार के "नीलोत्पलद्वन्द्वात्" पद को टीकाकार ने "इन्दीवरयुगात्" के रूप में, उनके "सिताः शराः" पदों को "शिलीमुखाः" के रूप में तथा "निःसरन्ति" पद को तद्रूप में ही रख दिया है। न जाने आपने अलंकार-भेद ही कैसे मान लिया, इसे आप ही समझ सकते हैं।

आपकी विभावना का नमूना तो पाठकों ने देख ही लिया। अब पाठक आपकी रूपकातिशयोक्ति को ध्यान से देखें—

रूपकातिशयोक्तिःस्यान्निगीर्याध्यवसानतः।
पश्य नीलोत्पलद्वन्द्वान्निःसरन्ति सिताः शराः॥

सहृदय पाठक ही बतलावें कि आपकी चौथी विभावना और रूपकातिशयोक्ति में क्या अन्तर है। और यदि कुछ भी अन्तर नहीं है, तो समस्त साहित्य-संसार में भ्रान्ति फैलानेवाली आपकी चौथी विभावना को समुचित दंड-विधान करने के लिए पाठकों के पास कौन-सा अमोघ अस्त्र है ?

यह एक साधारण-सी बात है कि मूलकार के दोषों पर योग्य टीकाकार विचार करता है, और उनके युक्ति-भ्रष्ट होने पर समुचित खंडन भी करता है, किन्तु आपने कुवलयानन्द के रूप में चन्द्रालोक की टीका करते हुए, जयदेवजी की सम्मत विभावना और रूपकातिशयोक्ति पर एक भी अक्षर नहीं लिखा। इसे हम आपकी विवेचन-पटुता न कहें, तो और क्या कह सकते हैं ! धन्य है दीक्षितजी महाराज और उनकी विभावना को ! आइए, आपकी उक्तियों का अनुसरण करनेवाले कुछ हिन्दी के आचार्यों की उक्तियों के नमूने भी देख लीजिए—

जबै अकारन बस्तु तें, कारज प्रगटहि होत।
कोकिल की बानी अबै बोलत सुन्यौ कपोत॥

आप हैं मारवाड़ के सुप्रसिद्ध महाराज जसवन्तसिंह। आपकी गणना अपने समय के प्रतापी राजाओं में की जाती है। आपका यह छन्द हिन्दी-साहित्य के ख्याति-प्राप्त ग्रन्थ भाषा-भूषण से उद्धृत है। आपने कुवलयानन्द

के लक्षण को भाषान्तरित कर उदाहरण में थोड़ा-सा हेरफेर कर दिया है तथा मिथ्या कपोत से कोकिल की बानी बुलवाने का असफल प्रयास किया है। आप किसी सच्चे कपोत से कोकिल की बानी बुलवाकर अपनी बाज़ीगरी दिखलाते, तो बहुत संभव है कि हमें भी यहाँ आपकी चौथी विभावना माननी पड़ती, किन्तु यहाँ न तो कोई कपोत ही है, और न वह कोकिल की बानी ही बोल रहा है। किसी नायिका के कंठ में कपोत का, उसकी बोली में कोकिल की बोली का भेद रहते हुए भी जो अभेद अध्यवसित हो रहा है, इसलिए यह भेद में अभेद-रूपा रूपकातिशयोक्ति ही है।

हेतु काज कौ जो नहीं, तासों काज उदोत।
यासों और विभावना, कहत सकल कवि-गोत॥
हँसत बाल के बदन में, यों छवि कछू अतूल।
फूली चंपक-बेलि तें, झरत चमेली-फूल॥

आप हैं प्रसिद्ध कवि-भूषण भूषण एवं चिन्तामणि त्रिपाठी के भाई मतिराम। हिन्दी-रीति-ग्रन्थों में आपकी रचना बड़ी ही सरस मानी जाती है। आपने लक्षण में कुवलयानन्द का अनुवाद कर, उदाहरण में उसी रूपकातिशयोक्ति को रख दिया है। फूली हुई चम्पा की बेल से चमेली के फूल गिराने की कोशिश का है। किन्तु यह विचार नहीं किया कि यहाँ चंपा की बेल में नायिका एवं चमेली के फूलों में उसके हास का भेद में अभेद अध्यवसित होने के कारण वही भेद में अभेदरूपा रूपकातिशयोक्ति है, आपकी विभावना नहीं।

काज अकारन तें जहाँ सो विभावना होइ।
कनकलता ते ऊपजें श्रीफल के फल दोइ॥

"कूपहि में सब भाँग परी है" सभी आचार्य भेड़-चाल की तरह जब अंधानुकरण कर रहे हैं, तो हमारे पद्माकरजी ही उस पुरानी परंपरा को कैसे छोड़ दें? देखिए, श्रीमान् के उक्त छंद से विभावना के स्थान पर अतिशयोक्ति ही उद्भूत हो रही है। आपकी कल्पित कनक-लता से कृत्रिम श्रीफल के फल निकल रहे हैं। अतः किसी कामिनी के काय में कनक-लता का तथा उसके कुच-युगल में श्रीफल के दो फलों का अभेदाध्यवसाय होने पर भेद में अभेद-रूपा रूपकातिशयोक्ति को रोकना, आपकी सामर्थ्य के बाहर की बात है।

लेख अधिक विस्तृत होने के भय से अन्य आचार्यों का उक्तियों का उल्लेख न कर, दो-एक आधुनिक साहित्य-धुरीणों की रचना के नमूने पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर विषय को समाप्त करता हूँ—

आवतु है तिल-फूल तें, मलय सुगन्ध समीर।
इन्दीवर-दल-जुगल तें, निकरतु तीच्छन तीर॥

आप हैं हिंदी-साहित्य के मर्मज्ञ प्रसिद्ध विद्वान् श्रीकन्हैयालालजी पोद्दार। आपके बनाये कई ग्रंथ हिंदी-साहित्य के लिए अपूर्व देन हैं। हिंदी में संस्कृत-साहित्य का इतिहास लिखकर आपने संस्कृत के विद्वानों का महान् उपकार किया है। इसलिए वे आपके चिर कृतज्ञ रहेंगे।

आपका प्रसिद्ध ग्रंथ "काव्यकल्पद्रुम" कई यूनि-वर्सिटियों—विश्व-विद्यालयों एवं एम्० ए०, बी० ए०, साहित्यरत्न आदि के हिंदी-पाठ्य-क्रम में निर्धारित है। इसी से आपकी विद्वत्ता का पता चल जाता है। ऊपर लिखा छंद आपके काव्य-कल्पद्रुम के द्वितीय भाग अलंकारमंजरी की चौथी विभावना से लिया गया है। इस छंद को हम जयदेवजी के चन्द्रालोक की रूपातिशयोक्ति के उत्तरार्ध का अनुवाद कहें, या अप्पय दीक्षित की रूपकातिशयोक्ति के उत्तरार्ध का, अथवा दीक्षितजी की विभावना का। सहृदय पाठक ही बतलावें कि आपके इस छंद को हम किसका क्या कहें। कुछ भी क्यों न हो, इसके लिए कोटिशः धन्यवाद के पात्र दीक्षितजी ही हैं, जिन्होंने विभावना के प्रकरण में जिस छंद में चौथी विभावना स्वीकार की है, अतिशयोक्ति के प्रकरण में उसी छंद में अतिशयोक्ति मान ली है। माननीय पोद्दारजी से क्या कहें; क्योंकि उन्होंने तो विना विचारे उसका अनुवादमात्र कर डाला है और उसी तिल-पुष्प से चन्दन के समान सुगन्धित वायु को तथा नीले कमल-युगल से पैने तीरों को निकाला है। पाठक परिचित ही हैं कि आपका वह तिल-पुष्प नायिका की नासिका से, चन्दन के समान सुगन्धित वायु उसके श्वास से, नीले कमल का युगल

उसके नेत्रों से, तीखे तीर उसके कटाक्षों से, भिन्न होते हुए भी अभिन्न बतलाये गये हैं। अतः यह भेद में अभेदरूपा रूपकातिशयोक्ति ही है, विभावना नहीं। यदि आपको चौथी विभावना मानना ही इष्ट है, तो इस प्रकार के स्पष्ट स्थान पर मान सकते हैं--

बेधक अनियारे नयन, बेधत करि न निषेध।
बरबस बेधत मोहिया, तो नासा कौ बेध॥

कविवर विहारीलालजी कहते हैं कि यदि तेरे नुकीले नेत्र मुझे बेधते हैं, तो मेरा कोई भी निषेध नहीं है; क्योंकि वे नुकीले होने के कारण बेध का कारण हो सकते हैं; किंतु तेरी नासिका का छिद्र, जो कि स्वयं बिंधा होने से बेध का अकारण है, हठात् मेरे हृदय को बेध रहा है।

यहाँ नोकरहित नासिका के छिद्ररूप अकारण से बेधरूप कार्य के उत्पन्न होने में चौथी विभावना स्पष्ट है।

मेरा किसी व्यक्तिविशेष से प्रयोजन नहीं है, अकस्मात् ही मुझे जो भूल "हिंदुस्तानी एकेडेमी" की त्रैमासिक पत्रिका के किसी अंक में दिखलाई दी थी तथा वह आगे भी पल्लवित होती चली जा रही थी, उसे मैं पाठकों के सम्मुख रख रहा हूँ। इसका विवेचन करना विचारशील पाठकों का अधिकार है। मेरा विचार तो केवल इतना ही है कि साहित्य-संसार में किसी तरह जो एक भ्रान्ति फैल गई थी, उसका यथोचित रूप में परिमार्जन हो, और जनता के सम्मुख उसका एक परिष्कृत रूप उपस्थित हो, जिससे कि आगे के लिए इस प्रकार की भ्रान्तियों को प्रोत्साहन न मिले। यदि आवश्यकता प्रतीत हुई, तो इसी विषय पर मैं फिर भी कुछ लिखने का प्रयत्न करूँगा।

सन्ध्या की लाली क्षितिज के किनारों पर फैल गई थी और दूर गेहूँ के खेतों के छोर तक गहरा कोहरा छा गया था। अपनी झोपड़ी की ओर जाते-जाते, राह में, पीपल के पेड़ के नीचे शूद्रक थक-कर बैठ गया। ठंड धीरे-धीरे बढ़ रही थी और हवा चलने लगी थी, लेकिन वह बैठा-बैठा सन्ध्या की लाली की ओर निहार रहा था। उसके मुख पर चिन्ता और करुणा के भाव दृष्टि-गोचर होते थे।

वह सोच रहा था कि कल भगवान् की मूर्ति का रथ नगर की परिक्रमा करनेवाला है। नगर में उत्साह से भगवान् की पूजा हो रही है। कल सभी नर-नारी उनके दर्शन करेंगे। केवल उसी को वहाँ उपस्थित होने की आज्ञा नहीं है। लेकिन जब वह भगवान् की सुन्दर मूर्ति को हृदय में विराजमान किये हुए है, तब उसे क्या; भगवान् के दर्शन सबके साथ न कर सकेगा तो क्या हुआ। वे प्रभु तो उससे दूर नहीं हैं, जो हर जगह स्थापित हैं, जिनकी लीला अपरम्पार है और जो सदा सबके पास रहते हैं।

शूद्रक ने नेत्र बन्द कर लिये और मन ही मन त्रिभुवननाथ की प्रार्थना की। उस समय उसके मुख पर चिंता और करुणा के भाव नहीं थे; उस समय तो वह शान्ति और आनन्द का अनुभव कर रहा था।

जब उसने नेत्र खोले, तब अँधेरा गहरा हो चला था और आकाश में तारे झिलमिलाने लगे थे। वह निश्चिन्तता से उठा और प्रसन्नवदन अपने घर की ओर प्रस्थान किया।

× × ×

दूसरे दिन राजमार्ग फूलों की मालाओं से सजाया गया था और नगर के सभी नर-नारी स्वच्छ वस्त्र धारण किये हुए राज-मंदिर की ओर जा रहे थे। राजा की ओर से सभी सेवकों को पुरस्कार दिये गये थे। शूद्रक के अन्य साथी प्रसन्नता से अपने-अपने पुरस्कार प्राप्त करके घरों में खुशियाँ मना रहे थे।

शूद्रक घर नहीं आया। वह मार्ग के एक ओर चुपचाप खड़ा मंदिर की ओर जानेवाले जन-समूह को देख रहा था। तब महामन्त्री का हाथी उस ओर से

निकला तो उन्होंने शूद्रक को देख लिया। उन्होंने उसे पास बुलवाकर कहा—'शूद्रक ! तुम भी देवदर्शन कर सकते हो।'

राजमन्त्री की ओर विनीत-मुद्रा से देखकर शूद्रक ने कहा—राजाओं की भाँति देवदर्शन करने का अधिकार मुझे नहीं है स्वामिन्।'

राजमंत्री को शूद्रक के उत्तर से आश्चर्य हुआ। उन्होंने पूछा—'भला फिर तुझे देवदर्शन का सौभाग्य कब प्राप्त होगा ?'

हाथ जोड़कर शूद्रक ने कहा—'जब भगवान् मेरी कुटी में पधारेंगे नाथ।'

राजमंत्री शूद्रक की मूर्खता पर हँसे, फिर बोले—'मूर्ख ! महाराज तो उनकी मूर्ति के दर्शन करने जा रहे हैं और भगवान् स्वयं तेरे घर पधारेंगे !'

शूद्रक ने दीनभाव से कहा—'दीनों का उस अन्तर्यामी के सिवा और है ही कौन राजन्।'

राजमंत्री ने दयार्द्र भाव से उसकी ओर देखकर कहा—'मूर्खता न कर ! भगवान् के दर्शन करने हों तो हमारी कृपा से लाभ उठा।'

नतमस्तक हो शूद्रक ने कहा—'नहीं देव !'

राजमंत्री का हाथी जब आगे बढ़ गया और भगवान् की रथयात्रा में बजनेवाले घंटे-घड़ियालों की ध्वनि उसके कानों में पड़ी, तब वह अपनी झोपड़ी की ओर चल पड़ा।

घर आकर शूद्रक रोने लगा और भगवान् की मूर्ति के सामने हाथ जोड़कर दीन भाव से कहने लगा—'प्रभो ! तुमने यह क्या किया ? राजमंत्री की कृपा से आज मैं तुम्हारे दर्शन कर लेता, लेकिन तुमने यह क्या कहलवा दिया ?'

× × ×

तीसरे प्रहर जब भगवान् का रथ नगर-परिक्रमा करके राजमंदिर को वापस लौट चुका था, तब शूद्रक उठा और आँसू पोंछकर स्नान किया और अपने काम को चल दिया।

राह में राजपुरोहित के भाई के दर्शन हो गये। शूद्रक ने उन्हें प्रणाम किया।

उन्होंने कहा—'क्यों रे, तू कितना मूर्ख है कि जब स्व॰ राजमंत्री ने तुझे भगवान् के दर्शन करने की अनुमति प्रदान की, तब भी तूने स्वीकार नहीं किया ?'

हाथ जोड़कर उसने कहा—'लेकिन प्रभो ! वे भगवान् तो राजाओं को दर्शन देते हैं। मेरे भगवान् तो कभी स्वयं आकर मुझे दर्शन देंगे।

उन्होंने कहा—'तू तो सदा मूर्खता की बातें करता है। कहीं भगवान् महाराज के राजप्रासाद को छोड़कर तेरी कुटी में पधार सकते हैं !'

जब शूद्रक चुप रहा तो वे बोले—'आज तू रथयात्रा का जुलूस देखता तो तेरी आँखें खुल जातीं। सोने के रत्नजटित रथ पर भगवान् की स्वर्ण-प्रतिमा विराजमान थी और अनेक साधु-सन्त, महात्मा और राजा-महाराजा उनके दर्शन कर रहे थे। तू भगवान् के दर्शन कर लेता तो जन्म-जन्मान्तर के पाप धुल जाते।'

शूद्रक ने विनीत स्वर में कहा—'तो क्या देव ! भगवान् का यही वास्तविक रूप है कि वे मूल्यवान् आभूषण पहनकर विद्वानों और धनी व्यक्तियों को ही दर्शन दें ? क्या उनके समक्ष भक्तों के लिए कोई स्नेह नहीं है ?'

राजपुरोहित के भाई ने समझा कि शूद्रक महामूर्ख है और वे चले गये। शूद्रक ने कौतूहलवश जिस प्रश्न का उत्तर चाहा था, वह प्रश्न उसके मस्तिष्क में ही रह गया और चिन्तामग्न हो अपना कार्य करता रहा।

× × ×

सन्ध्या होते ही वह पीपल के नीचे आ बैठा और डूबते हुए सूर्य की ओर दृष्टि किये विचारता रहा कि उसे न जाने क्या हो गया है ! वह राजमंत्री के निमंत्रण को भी कैसे अस्वीकार कर सका ? और क्या वास्तव में कभी उसे भगवान् के दर्शन होंगे ?

इसी समय उसने देखा, सामने से एक युवा संन्यासी आ रहे हैं। उनकी स्वस्थ और सुगठित देह पर गेरुए वस्त्र हैं, हाथ में कमंडलु है। उच्च ललाट पर चन्दन लगा हुआ है और बड़े-बड़े केश हवा में उड़ रहे हैं। उनके सुन्दर-तेजोमय मुख पर सूर्य की लाली पड़ रही है और उनके तेज को द्विगुणित कर रही है।

शूद्रक ने सोचा कि इन्हीं महात्माजी से अपना

प्रश्न करके शंका-समाधान करेगा। वह उठ खड़ा हुआ और उन्हें सादर साष्टांग प्रणाम किया।

महात्माजी ने हाथ बढ़ाकर उसे उठा लिया। शूद्रक आश्चर्य से उनकी ओर देखता हुआ पीछे हट गया और कहा—'भगवन्! यह आपने क्या किया। मैं शूद्र हूँ प्रभो! आपने मेरा स्पर्श करके मुझे सात जन्म तक नरक भोगने का शाप दे दिया।'

संन्यासी कुमार ने हँसकर कहा—'नहीं वत्स! तुम शूद्र मृत्युलोक में भले ही हो, लेकिन भगवान् के सामने उन्हीं के अंश हो। यदि उनमें तुम्हें लेश-मात्र भी भक्ति है तो तुम्हारे पिछले जन्म के पाप भी दूर हो जायँगे।'

शूद्रक कुछ बोला नहीं, वह आश्चर्य से उनकी ओर देख रहा था। संन्यासी कुमार ने कहा—'वत्स! मुझे भूख लगी है। भोजन की व्यवस्था कर सकोगे?'

उसने कहा—'लेकिन भगवन्! मैं शूद्र हूँ और आप....'

उन्होंने शूद्रक की बात काटकर कहा—'वत्स! तुम अपने अतिथि को भोजन भी न करा सकोगे?'

शूद्रक ने कहा—'तो क्या आप मेरा आतिथ्य-सत्कार स्वीकार कर सकेंगे?'

योगिराज ने कहा—'मैं तो स्वयम् ही तुम्हारा अतिथि बनकर आया हूँ।'

शूद्रक ने उनकी ओर देखना चाहा, पर देख न सका; फिर कहा—'मेरे जन्म-जन्मान्तर के पाप धुल जायँगे प्रभो, यदि आप मेरी झोपड़ी में चलने का कष्ट कर सकें।'

शूद्रक के साथ-साथ योगिराज चल दिये।

राह में शूद्रक ने पूछा—'भगवन्! क्या मेरे एक प्रश्न का उत्तर देने की कृपा करेंगे?'

उन्होंने कहा—'पूछो!'

शूद्रक ने कहा—'मैं यह जानना चाहता हूँ कि क्या भगवान् दीन-दुखियों के घर नहीं आते?'

उन्होंने कहा—'भगवान् को जो भी सच्चे हृदय से बुलाता है, उसी के यहाँ वे जाते हैं।'

प्रसन्न हो शूद्रक ने कहा—'तो मेरे यहाँ भगवान् पधारेंगे?'

हँसकर उन्होंने उत्तर दिया—'अवश्य! लेकिन तुम भगवान् से क्या कहोगे?'

शूद्रक ने कहा—'मैं उनसे कहूँगा कि प्रभो! तुम मुझे अपने साथ ले चलो।'

योगिराज बोले—'ऐसा क्यों?'

शूद्रक ने कहा—'प्रभो! मैं मोक्ष चाहता हूँ।'

योगिराज के पीछे-पीछे शूद्रक ने भी कुटी में प्रवेश किया।

× × ×

प्रातःकाल लोगों ने देखा कि शूद्रक की निर्जीव देह झोपड़ी में पड़ी हुई है। उसके चेहरे पर शान्त-प्रसन्नता का तेज छाया हुआ था।
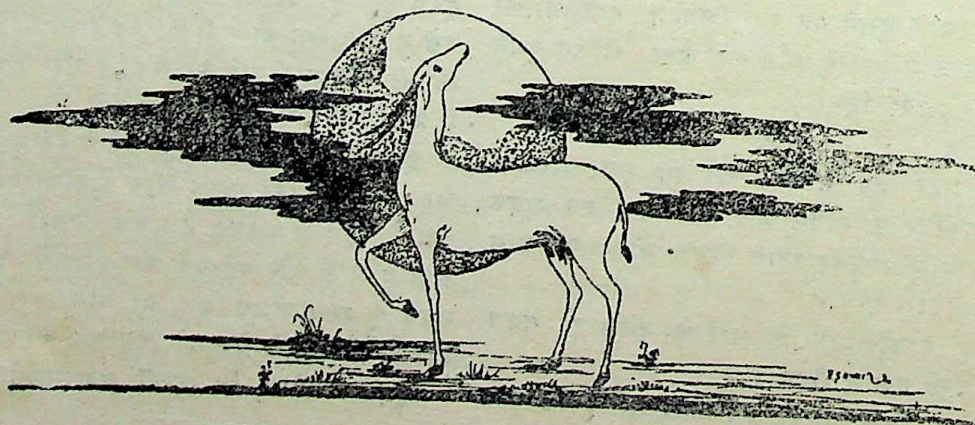
"क्यों" की कथा

श्रीयुत मुकन्दीलाल बी० ए० (आक्सन) बार-एट-ला

(१) क्यों मुझे ख़याल हुआ कि मेरा मित्र मुझसे रुष्ट है। कभी सोचता था, शायद मेरी अमुक बात से वह मुझसे नाराज़ हो गया है। अपने को धिक्कारा। मैंने ऐसा क्यों कहा! फिर अपने मन में कहने लगा—क्यों न कहता, जब मेरे दिल में यह विचार उत्पन्न हुआ, और मुझे कहने का अवकाश भी अनायास प्राप्त हुआ। शायद फिर कभी कहने का अवकाश न मिलता। बात क्या थी? सिर्फ़ यही कि "इतने आनन्द से मेरा समय कभी नहीं बीता।" मेरे मित्र ने कोई उत्तर नहीं दिया। उत्तर की कोई आवश्यकता न थी। न मैंने उत्तर की प्रतीक्षा ही की। मैं वह बात कहकर अपने मित्र को खड़ा छोड़कर चल दिया।

(२) दूसरे दिन जब मैं अपने सखा से मिला तो मैंने न जाने क्यों अपने मित्र से कहा—"मैं वचन देता हूँ कि मैं कभी ऐसा अवकाश उपस्थित न होने दूँगा, जिससे तुमको दुःख हो।" इतना ही कहकर मैं चला गया। मैंने यह क्यों कहा, इसका कोई उत्तर मेरे पास नहीं। मन में बात आई, कह दी। मन की लहर थी। "इतने आनन्द से मेरा समय कभी नहीं बीता", यह फ़िक़रा तो इतना ख़तरनाक न था। न वह नाराज़गी का बायस ही हो सकता था। अस्तु, सान्त्वना-सूचक वाक्य कहने की क्या आवश्यकता थी? सफ़ाई देने की क्या ज़रूरत थी? मेरा सखा तो इतना कायर नहीं था, जो उसे धैर्य देने की आवश्यकता हो। लेकिन प्रतीत होता है, जिन शब्दों को एक व्यक्ति साधारण, निरर्थक समझे, उन्हीं शब्दों के अन्दर अन्य लोगों के नज़दीक कुछ और अथवा गम्भीर आशय निकलता है। मानना पड़ेगा कि शब्दों को समझना, उनके यथोचित माने लगाना बड़ा मुश्किल काम है।

(३) तीसरे दिन जब मैं अपने मित्र से मिला, उसने करुणामय शब्दों में कहा—तुमने कल यह क्यों कहा कि "मैं कभी ऐसा अवकाश उपस्थित न होने दूँगा, जिससे तुमको दुःख हो।" मैं क्षण भर के लिए अवाक् हो गया। मुझे अपनी दिलेरी का बड़ा घमंड है। मैं शेरमारख़ाँ हूँ, और अब दिल में यही अर्मान बाक़ी है कि ज़मीन पर से पैदल चलकर शेर का शिकार करूँ; मगर उस समय मेरा कायरपन अपनी पराकाष्ठा को पहुँच चुका था। मैं इतना घबरा गया कि कोई यथोचित जवाब मुँह से न निकला। एक ऐसे कायर पुरुष की तरह, जो केवल क्षमा का प्रार्थी हो, मेरे मुँह से शब्द निकले। मैंने सोचा, कोई भ्रम या ग़लतफ़हमी परस्पर न हो जाय, इसी लिए कहा था, "क्षमा कीजिए।" यद्यपि मैं चाहता तो अपनी सफ़ाई में बहुत कुछ कह सकता था, लेकिन न जाने क्यों, न और कुछ कहना चाहा और न और कोई बात करने

की हिम्मत हुई । मैं उठकर चला गया । दिन भर यही सोच रहा कि मेरा मित्र मुझसे नाराज़ हो गया है। काम पर भी मन न लगा । अपने तईं ख़ूब धिक्कारा । क्यों तूने मुँह खोला । कहने की ज़रूरत ही क्या थी ।

(४) शाम को चार-पाँच मित्रों के साथ हम दोनों मित्र हवाख़ोरी के लिए गये । ज़बान से तो मेरे मित्र ने एक भी शब्द ऐसा नहीं कहा, जिससे उसकी नाराज़ी ज़ाहिर हो, न अन्य हमारे घुमक्कड़ सखा ही इस बात का क़यास कर सकते थे कि मेरा मित्र मुझसे विरक्त है । किन्तु मैं तो यही समझे बैठा था कि मैंने अपने उक्त शब्दों से अपने सखा को नाराज़ कर दिया । यह चोर मेरे मन में घुसा था । हृदय वेदना से चूर-चूर हो रहा था । मानो कोई लकड़हारा मेरे हृदयरूपी वृक्ष को कुल्हाड़ी से काट रहा है । मैं अपने दिल की दुःखभरी आहट को सुनता था; किन्तु और कोई उसे नहीं सुन सकता था। अन्य कोई उस वेदना का अनुमान ही नहीं कर सकता था । न जाने क्यों, मैं चाहता था, क्या ही अच्छा होता कि मेरा मित्र मेरे मन के अव्यक्त भावों को समझ ले कि मुझे बड़ा दुःख हो रहा है । वह मुझे क्षमा करे, मेरी यह प्रबल इच्छा क्यों ?

(५) आश्चर्य की बात है कि मैं हँस भी रहा था, मज़ाक़ की बातें भी करता जाता था, अन्य मित्रों को रिझा भी रहा था; किन्तु मेरे हृदय में अकथनीय वेदना थी । उसे मैं किस ख़ूबी के साथ छिपाये हुए चल रहा था । इसका अनुमान करके मुझे स्वयं आश्चर्य होता है ! क्या मनुष्य इतना अद्भुत जन्तु है कि वह अपने मन के भावों को इस चातुरी और सफलता के साथ छिपा सकता है कि मन में कुछ और, मुँह में कुछ और । मन के भावों को शब्द तो छिपा सकते हैं; किन्तु नेत्र छिपने नहीं देते । आँखों से अकसर पता लग जाता है कि जिस कमरे की वे खिड़कियाँ हैं, उसके अन्दर क्या रक्खा है । इन्हीं खिड़कियों के द्वारा तो मैंने अनुमान किया कि मेरा मित्र मुझसे रूठा हुआ है।

(६) जिस दिन पहले-पहल मैंने अपने मित्र को देखा था, उसी दिन न जाने क्यों विना पूर्व परिचय के इस मित्र के प्रति मेरे हृदय में इतना गाढ़ प्रेम उत्पन्न हुआ । ज्ञात होता था, मानो मैं उसे बहुत काल से जानता था । उसके नेत्रों में विलक्षण शक्ति थी । न जाने क्यों हमारी नज़र मिलते ही ऐसा प्रतीत होता था, मानो दो पूर्ण परिचित बिछुड़े हुए मित्रों का सम्मेलन अकस्मात् ही हो गया है । उसी क्षण से मैंने उसे अपना परम मित्र मान लिया, और तभी से मेरी बड़ी भक्ति अपने मित्र के प्रति हो गई । इसी लिए सदैव मुझे भय रहता था कि मेरे मुँह से कोई ऐसी बात न निकले, जिससे मेरा मित्र मुझसे रूठ जाय । मेरी यह एकमात्र महत्वाकांक्षा है कि आजीवन हमारी मैत्री बनी रहे ।

(७) अस्तु, उस दिन इसी भय से कि मेरा मित्र खिन्न होकर मुझसे अपनी मित्रता न तोड़ दे, मुझे अकथनीय दुःख था । मैं अपने को लानत देता था । पश्चात्ताप कर रहा था कि क्यों मैंने वे शब्द कहे । मैं मुँह से अपने स्वाभाविक मैत्री-भाव का प्रदर्शन कर रहा था । मेरे हृदय पर जो आघात अपने ही शब्दों के कारण हो रहे थे, उनकी वेदना असह्य हो रही थी । प्रसंगवश मैंने अपने घुमक्कड़ साथियों से कहा—"मैं भी अच्छा बेवक़ूफ़ हूँ ! बातें तो दूर भविष्य की कर रहा हूँ, किन्तु न जाने कब मुझे यहाँ से चल देना पड़े ।" यह सुनकर मेरे मित्र ने सहसा पूछा —"क्यों ?" इस शब्द के सुनते ही मुझे अकथनीय आनन्द हुआ । मेरी चिन्ता दूर हो गई । मुझे विश्वास हो गया कि मेरा मित्र दरअसल दिल से मुझसे नाराज़ नहीं । मेरे रूठे हुए मित्र ने ही "क्यों" पूछा; और किसी मित्र ने मेरे चले जाने का कारण क्यों नहीं पूछा ? और भी तो दोस्त मौजूद थे।

(८) वही हृदय, जो वेदना के मारे चूर-चूर हो रहा था, अब आनन्द के मारे फूला नहीं समा रहा था । "क्यों" शब्द के सुनते ही वेदना दूर हो गई । मैंने जो दो रूप धारण किये थे, वे एक में लीन हो गये । अब मैं पाखण्डी फ़क़ीर की तरह मुँह में राम नाम और बग़ल में छुरी छिपाये हुए सड़क नहीं नाप रहा था । अब सचमुच मैं अपने आनन्द का प्रदर्शन करने लगा । मन को शान्ति हुई । रात को ख़ूब आराम से नींद आई । मुँह से तो कुछ कहा नहीं;

किन्तु मन-ही-मन अपने मित्र के प्रति असीम कृतज्ञता प्रकट की।

(६) मुझे "क्यों" शब्द के सुनते ही इतना आनन्द हुआ; क्योंकि मेरे मित्र के हाव-भावों से मुझे संदेह हो गया था कि वह मुझसे ग़ुस्सा हो गया है। इस प्रश्न "क्यों" में क्या ऐसा जादू का मन्त्र भरा था, जो उसके सुनते ही मैं प्रफुल्लित हो गया? मुझे "क्यों" शब्द के सुनते ही शान्ति मिल गई कि यद्यपि मेरे मित्र के हाव-भाव से मेरे प्रति उसकी उदासीनता प्रकट होती थी, किन्तु वास्तव में दिल से वह मुझसे नाराज़ नहीं और मुझे दुखी और चिन्तित देखकर वह भी दुखी है।

(१०) मनुष्य को प्रत्येक शब्द का प्रयोग बहुत सोच-विचारकर करना चाहिए। प्रत्येक शब्द में बड़ी शक्ति है। एक ही शब्द से एक मनुष्य एक मतलब निकालता है तो दूसरा और ही मतलब उसका समझता है। जो अर्थ किसी शब्द के प्रकट होते हैं, उनसे गूढ़ दूसरा अर्थ उसी शब्द का हो सकता है। इसके अतिरिक्त किस अवसर पर अथवा कब किसी शब्द का प्रयोग हुआ, इस पर भी बहुत कुछ निर्भर है। मेरे अन्य मित्र अथवा उस "क्यों" शब्द का प्रयोग करनेवाला मित्र भी "क्यों" के माने व उसका प्रभाव ज़ाहिर न समझा हो। सम्भव है, मैंने जो अर्थ उस "क्यों" का लगाया, वह अर्थ "क्यों" के प्रयोगकर्ता तथा और किसी मित्र ने न लगाया हो; किन्तु मेरे लिए तो वह "क्यों" अत्यन्त आनन्ददायी और सान्त्वना देनेवाला साबित हुआ। उसके द्वारा मैं अपने मित्र की उदारता और दयालुता से परिचित हुआ, जिसके लिए मैं सदैव कृतज्ञ रहूँगा और जिसे मैं कभी नहीं भूलूँगा।
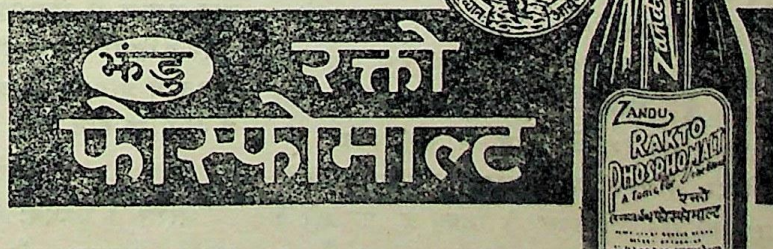
भारतीय काग़ज़-व्यवसाय और उसका भविष्य

श्रीलक्ष्मीशंकर व्यास

आधुनिक युद्ध ने जिन-जिन भारतीय उद्योग-धन्धों पर अपना प्रभाव डाला है, उनमें काग़ज़ का व्यवसाय प्रमुख है। योरप और अमेरिका के विभिन्न भागों से, भारत में प्रतिवर्ष तीन करोड़ रुपये का काग़ज़ और पल्प (लुगदी) आता था। किंतु वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति के परिणाम-स्वरूप विदेशों से, उन सभी वस्तुओं का आयात बन्द हो गया है, और भारतीय काग़ज़-व्यवसाय के लिए नवीन समस्याएँ उत्पन्न हो गई हैं।

स्थापना का इतिहास

प्राचीन इतिहास के पर्यालोचन से यह स्पष्टतया ज्ञात होता है कि भारत में काग़ज़ बनाने की कला, योरप के प्रदेशों की अपेक्षा शताब्दियों पूर्व विद्यमान थी। चीन के इतिहास के अनुसार संसार में सर्वप्रथम काग़ज़ का आविष्कार ईसा के पूर्व दूसरी शताब्दि में चीन में हुआ था। किंतु अनेक प्रमाण इस प्रकार के भी प्राप्त हुए हैं, जिनसे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि मिस्र देश में चीन से कहीं पहले ही, नील नदी की 'पैपिरस' घास द्वारा काग़ज़ प्रस्तुत किया जाता था। जो हो, इतिहास के उपर्युक्त प्रमाणों के अनुसार, इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि विश्व के प्राचीनतम सभ्य प्रदेशों—भारत, चीन एवं मिस्र में काग़ज़ बनाने की कला लोगों को विदित थी।

पाश्चात्य प्रदेशों के साथ व्यापार करनेवाले अरब लोगों ने ही संभवतः काग़ज़ बनाने की कला का योरप के देशों में प्रचार एवं प्रसार किया होगा। चौदहवीं शताब्दि में सबसे पहली मिल इँगलैंड में जॉन टेट ने स्थापित की थी। फिर इँगलैंड से जर्मनी, फ्रांस, इटली आदि देशों में काग़ज़ की मिलें स्थापित हुईं। और आज तो नार्वे, स्वेडन, हालैंड, इँगलैंड आदि देश, विश्व में काग़ज़ के सबसे बड़े उत्पादक हैं।

भारत में मशीन द्वारा काग़ज़ बनाने की कला पचास-साठ साल के पूर्व न थी। यद्यपि आज से दो सौ वर्ष पूर्व डाक्टर डब्लू केरे यहाँ काग़ज़ बनाने की कल लाये थे, पर वास्तव में सन् १८६७ ई० में बंगाल की रायल पेपर मिल्स की स्थापना के पश्चात् ही यहाँ काग़ज़ का उत्पादन आरंभ हुआ। पन्द्रह वर्ष बाद बंगाल में टीटागढ़ पेपर मिल्स तथा लखनऊ में अपर इंडिया पेपर मिल्स की स्थापना के पश्चात् भारत में प्रायः सभी प्रकार के काग़ज़ का यथेष्ट मात्रा में निर्माण होने लगा।

विदेशी आयात

भारत में मुख्यतः स्वेडन, नार्वे, जर्मनी, फ़िनलैंड, कनाडा, जापान और संयुक्तराज्य अमेरिका से प्रचुर परिमाण में काग़ज़ आता है। ये काग़ज़ समाचारपत्र, पुस्तक, पैकिंग, कार्डबोर्ड, वाटर प्रूफ़ पैकिंगपेपर आदि भिन्न-भिन्न प्रकार के आते हैं। भारत में प्रत्येक

वर्ष २१,००,००० टन काग़ज़ की खपत होती है, जब कि यहाँ केवल ४८,००० टन ही काग़ज़ प्रस्तुत हो पाता है। ऐसी अवस्था में, बहुत बड़ी मात्रा में काग़ज़ विदेशों से मँगाया जाता है।

सन् १९३८-३९ ई० में स्वेडन और नार्वे से पुस्तक आदि छापने के निमित्त ३ लाख, २६ हज़ार काटर तथा '३९-४० में ४ लाख २ हज़ार काटर काग़ज़ मँगाया गया। जर्मनी से इसी प्रकार का काग़ज़ सन् '३८-३९ में ३ लाख ५ हज़ार काटर और सन् '३९-४० ई० में २ लाख ६ हज़ार काटर आया। फ़िनलैंड से सन् '३८-३९ ई० में १ लाख १ हज़ार काटर तथा सन् '३९-४० ई० में ८५ हज़ार काटर काग़ज़ मुद्रण के हेतु मँगाया गया। कनाडा और जापान से सन् '३८-३९ ई० में क्रमशः ५ हज़ार काटर तथा ४ हज़ार काटर और सन् '३९-४० ई० में यही काग़ज़ क्रम से ६.१ हज़ार एवं २३ हज़ार की मात्रा में आया। इसी प्रकार का प्रिंटिंग पेपर संयुक्तराष्ट्र अमेरिका से सन् '३८-३९ ई० तथा '३९-४० ई० में क्रमशः १८ हज़ार और २१ हज़ार काटर के प्रचुर परिमाण में मँगाया गया।

यही नहीं, विदेश से भारत में प्रतिवर्ष लकड़ी का पल्प भी काग़ज़ के निर्माण हेतु आता है। सन् १९३८ ई० में लकड़ी का पल्प, नार्वे और स्वेडन से १ लाख ५२ हज़ार काटर और संयुक्तराज्य अमेरिका से ७१ हज़ार काटर भारतीय मिलों के निर्माण हेतु आयात हुआ। सन् '३९ ई० में इसी प्रकार का पल्प नार्वे और स्वेडन से १४ लाख काटर और संयुक्तराष्ट्र अमेरिका से १ लाख १ हज़ार काटर मँगाया गया। सन् १९४० ई० में भारतीय काग़ज़ की मिलों के लिए २ लाख ३४ हज़ार काटर पल्प, २२ लाख रुपये मूल्य का आया। किंतु गत वर्ष काग़ज़ की अत्यधिक माँग बढ़ जाने के कारण २६ लाख रुपये का २ लाख ७७ हज़ार काटर पल्प आया।

भारत में प्रत्येक वर्ष मुद्रण के हेतु २½ करोड़ रुपये का काग़ज़, ५० हज़ार रुपये का लकड़ी के पल्प आदि के अतिरिक्त प्रतिवर्ष १ लाख, १५ हज़ार टन रद्दी काग़ज़, कार्डबोर्ड, पेस्टबोर्ड, मिलबोर्ड, आदि भी विदेशों से आता है। सन् ३८-३९ ई० में योरप से वाटर प्रूफ़ पैकिंग काग़ज़ ६७ लाख रुपये का आया।

भारत में काग़ज़-उत्पादन

भारत में काग़ज़-निर्माण के लिए सन् १९३५ ई० में १७ मिलें थीं और उन्होंने उस साल ९,६१,९८५ काटर काग़ज़ निर्मित किया। सन् '३७ ई० में मिलों की संख्या २३ थी और उनके द्वारा ९,७०,६२५ काटर काग़ज़ उत्पादित हुआ। उनकी संख्या सन् ३८ ई० में १८ हो गई और उनके द्वारा उत्पादन हुआ १०,७६,२२२ काटर काग़ज़। सन् '३९ ई० और '४० ई० में भारत में कुल मिलें २१ और २२ की संख्या में रहीं और उनके द्वारा क्रमशः ११,८३,९२७ काटर और १४,१६,२६७ काटर काग़ज़ प्रस्तुत हुआ। जो भारतीय काग़ज़ की माँग के अनुसार अत्यंत न्यून है।

किंतु आज जिस गति से भारत में काग़ज़ का व्यवसाय चल रहा है, यह वास्तव में देश की सम्पन्नता, शक्ति और साधनों की ओर देखते हुए कुछ भी नहीं कही जा सकती। डब्लू राइट नामक वानस्पतिक विशेषज्ञ ने यह अनुमान लगाया है कि यदि भारत के समस्त साधनों का पूर्ण रूप से उपयोग किया जाय, तो अकेला भारत एक-दो वर्ष नहीं, पूरे चालीस वर्ष पर्यंत सारे संसार के काग़ज़ की आवश्यकता की पूर्ति कर सकता है। *

काग़ज़-निर्माण के लिए जिन वस्तुओं एवं पदार्थों की आवश्यकता होती है, वे सभी यहाँ प्रचुर परिमाण में विद्यमान हैं। सवाई, बांइब घास और वे लकड़ियाँ, जिनसे काग़ज़ प्रस्तुत होता है, बंगाल, छोटा नागपुर, उड़ीसा आदि स्थानों में बड़े परिमाण में प्राप्य हैं। जूट, मूँज, बिगासी, बोरे, चिथड़े, पुरानी रस्सी, सबाना घास और बाँस, जिनसे भी अनेक प्रकार के काग़ज़ तैयार किये जा सकते हैं, उनकी भी यहाँ कोई कमी नहीं। इधर इम्पीरियल रिसर्च इन्स्टिट्यूट ने अनुसन्धान कर यह पता लगाया है कि बाँस की लुगदी के द्वारा भी काग़ज़ प्रस्तुत किया जा सकता है।

* इंडियन रिव्यू, अगस्त, पृष्ठ ४७१।

राइट साहब के मतानुसार बाँस और घास द्वारा ५०,००० टन काग़ज़ तैयार किया जा सकता है। केवल बाँस और सवाना घास से २ करोड़ टन पल्प तैयार हो सकता है; पर यह तभी संभव है, जब पल्प तैयार करनेवाली मशीनें हों। दुर्भाग्य से इस प्रकार की मशीनों का यहाँ बहुत अभाव है। टीटागढ़ मिल्स ने अभी हाल में ही पल्प तैयार करनेवाली मशीनें मँगवाई हैं। पर वह भारत-जैसे विशाल राष्ट्र की आवश्यकता की पूर्ति के लिए पर्याप्त नहीं। यदि इस प्रकार की मशीनें अधिक संख्या में यहाँ मँगाई जायँ, तो कुछ वर्षों के बाद ही भारत को काग़ज़ के लिए विदेशों का मुँह कदापि न देखना पड़े।

इसके लिए आवश्यकता है, देश की सरकार के साहाय्य एवं सहयोग की। किन्तु दुर्भाग्य से हमारे देश की सरकार सदा से भारतीय व्यवसाय और उद्यम की ओर उदासीनता की नीति बनाये हुए है। यदि वह देश में काग़ज़ की मिलें स्वयं स्थापित करती और साथ ही देश के धनकुबेरों का भी इस व्यवसाय की ओर ध्यान आकृष्ट करती, तो आज अवश्यमेव भारतीय काग़ज़-व्यवसाय के इतिहास की कुछ और ही रूप-रेखा होती।

वर्त्तमान परिस्थिति

प्रकृति द्वारा प्रदत्त समस्त साधनों के होते हुए भी, आज भारत में जो काग़ज़ का अकाल पड़ रहा है, इसके लिए वास्तव में देश की सरकार सोलहो आने ज़िम्मेदार है। निस्सन्देह उसकी उपेक्षणीय नीति के परिणामस्वरूप ही आज भारतीय काग़ज़ व्यवसाय की यह दशा है।

भारत में केमिकल पल्प द्वारा ही अधिकांशतः काग़ज़ बनाये जाते हैं। जिनका उपयोग लिखने, पुस्तक-मुद्रण आदि के काग़ज़ के व्यवहार के लिए ही हो सकता है। मेकेनिकल पल्प द्वारा प्रस्तुत काग़ज़ स्थायी और अधिक मज़बूत नहीं होते। समाचारपत्रों के लिए काग़ज़ क्रमशः ४ : १ के अनुपात में मेकेनिकल और केमिकल पल्प द्वारा प्रस्तुत होता है। किन्तु अभी तक भारत में मेकेनिकल पल्प द्वारा काग़ज़-निर्माण के पर्याप्त साधन प्राप्त नहीं हुए थे, अतः केमिकल पल्प द्वारा ही भारतीय मिलों में अधिकतर काग़ज़ बनाये जाते हैं।

विदेशों में एक-एक दैनिक पत्रों के लिए २० से लेकर ५० एकड़ तक के जंगलों की लकड़ियाँ और घास द्वारा प्रस्तुत काग़ज़ प्रतिदिन समाप्त हो जाता है। पर भारत में समाचारपत्रों के लिए साल भर में केवल ४५०० टन की आवश्यकता पड़ती है। यह काग़ज़ प्रायः विदेशों से ही मँगाया जाता है। इधर देहरादून के फ़ारेस्ट रिसर्च इन्स्टीट्यूट ने अनुसन्धान कर 'काइडिया कैलिसिना' नामक वृक्षों द्वारा मेकेनिकल पल्प से काग़ज़ बनाने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया है और उन्हें उसमें सफलता भी प्राप्त हुई है। इसके अतिरिक्त विशेषज्ञों के मतानुसार, काश्मीर तथा गढ़वाल राज्य की तराइयों में भी, अख़बारी काग़ज़ के साधन प्राप्य हैं। किन्तु मशीनों के अभाव तथा युद्धजन्य परिस्थिति के कारण, आज उनका निर्माण संभव नहीं।

भारत में बम्बई, मद्रास, हैदराबाद, मनीपुर स्टेट, काश्मीर, गोरखपुर आदि अनेक स्थानों में हाथ से काग़ज़ बनाने की कला लोगों को विदित है और ये देश के राष्ट्रीय उद्योगधन्धों के पुनर्निर्माण का कार्य-क्रम सुन्दरता से संचालित कर रहे हैं। इस सबंध में आवश्यकता इस बात की है कि हाथ से काग़ज़ बनानेवाले कार्यालय बहुत अधिक संख्या में, स्थान-स्थान पर स्थापित हों तथा उनके संचालन के लिए सरकार और देश के पूँजीपति उनकी आर्थिक सहायता एवं संरक्षण करें, तभी ये कार्यालय अधिक-से-अधिक परिमाण में काग़ज़ उत्पादन कर सकने में समर्थ होंगे।

वर्त्तमान युद्ध के कारण, विदेशों से सभी प्रकार के काग़ज़ का आयात बन्द है। इसके फलस्वरूप भारत में काग़ज़ का अकाल-सा पड़ गया है। काग़ज़ के अभाव से अनेक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन स्थगित हो गया है, उनके मूल्य में वृद्धि हो गई है। आज युद्धजन्य अन्य परिस्थितियों एवं समस्याओं के साथ-साथ काग़ज़ की समस्या भी हमें चिन्ताग्रस्त बना

रही है। काग़ज़ की मितव्ययिता के संबंध में आज चारों ओर चर्चा चल रही है। सरकार ने अपने सभी विभागों में २५ प्रतिशत कम काग़ज़ ख़र्च करने का आदेश दिया है। सभी प्रान्तीय सरकारें भी इसी अनुपात में काग़ज़ का ख़र्च कम करेंगी। जनता को भी चाहिए कि अब काग़ज़ का अपव्यय न करें, प्रत्युत अपना काग़ज़ी ख़र्च कम करें, अन्यथा पूर्व की माँग के अनुसार ३० हज़ार टन काग़ज़ की कमी पड़ जायगी।

काग़ज़ का नवीनतम उपयोग

आज संसार के धन, जन तथा समस्त साधनों का उपयोग केवल एक उद्देश्य की पूर्ति के लिए हो रहा है और वह है युद्ध। आधुनिक वैज्ञानिक शस्त्रार्थों के उत्पादन में काग़ज़ कितने महत्त्व का है, इस विषय पर लन्दन के 'दि स्फियर' नामक पत्र में श्रीचार्ल्स ग्रेभ ने नवीन प्रकाश डाला है। आपका कहना है कि एक टन रद्दी काग़ज़, कार्डबोर्ड आदि के मिश्रण से, ४००० बन्दूक़ के फलीते के लिए, १५०० पहलदार श्येल, ११०० सुरङ्ग-निर्माण सहायक सामग्री, ३५० छोटी बन्दूक़ों के लिए श्येल रखनेवाले बक्स, ४७००० श्येल कप, ४७००० कारतूस बक्स, ३६००० ढाल, ३००० हवाई तोपों के श्येल बक्स तथा १४०००० वासर प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

आज के यांत्रिक युद्धशस्त्र के निर्माण में काग़ज़ की इस महत्ता के कारण ही, हाल में ही लार्ड बीवरब्रुक ने दल बनाकर १ लाख टन काग़ज़ के एकत्रीकरण के लिए, स्थान-स्थान की यात्रा की थी। आज एल्यूम्यूनियम की भाँति काग़ज़ का भी महत्त्व बहुत बढ़ गया है। भारत के पूर्व बर्मा और पूर्व-दक्षिण जावा आदि द्वीपों में भयंकर समराग्नि प्रज्वलित है। ऐसे संकटकाल में युद्धशस्त्रार्थों के निर्माण में भारतीय रद्दी काग़ज़ भी कितने महत्त्व एवं उपयोग की वस्तु होगी, यह उपरिलिखित आँकड़ों से स्पष्ट ही है।

उज्ज्वल भविष्य

प्रत्येक प्रकार के व्यवसाय की सर्वांगीण उन्नति के लिए तीन स्थितियाँ अपेक्षित हुआ करती हैं। पहली आवश्यक वस्तु है—कच्चा माल। हम देख चुके हैं कि काग़ज़ के व्यवसाय के हेतु जिन प्राकृतिक वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है, वे सभी भारत में प्रचुर मात्रा में प्राप्य हैं। काग़ज़ के व्यवसाय की समुन्नति की दृष्टि से, उसकी खपत के लिए बाज़ार का होना भी बहुत अधिक महत्त्व रखता है। इस दृष्टि से भी भारतीय काग़ज़-व्यवसाय का भविष्य प्रकाशपूर्ण प्रतीत होता है। कारण, आधुनिक युग में हमारा काम बिना काग़ज़ के चल ही नहीं सकता और सुसभ्य और सुशिक्षित देशों में काग़ज़ अधिक-से-अधिक परिमाण में खपता है। तीसरी आवश्यक बात, जो किसी व्यवसाय के लिए होनी चाहिए, वह है भविष्य में उसके विकास की संभावना। इस दृष्टिकोण से भी, भारत काग़ज़-व्यवसाय के लिए अत्यंत उपयुक्त स्थान सिद्ध होता है।

भारत की जन-संख्या चालीस करोड़ है और अभी उसमें साक्षरों की संख्या अत्यंत ही अल्प है। कल के सम्पूर्ण साक्षर भारतीयों को आज से कितने अधिक परिमाण में काग़ज़ की आवश्यकता होगी, उसका अनुमान सरलता से किया जा सकता है। एक वानस्पतिक विशेषज्ञ के शब्दों में 'यदि भारत में विद्यमान सभी साधनों का ठीक-ठीक उपयोग किया जाय तो यह काग़ज़ उत्पादन में वही उच्च स्थान प्राप्त कर सकता है, जो आज योरप में नार्वे को प्राप्त है।' अतः देश की सरकार और धन-कुबेरों को शीघ्र ही, आर्थिक साहाय्य और संरक्षण कर भारतीय काग़ज़-व्यवसाय को स्वावलम्बी एवं समुन्नतिशील बनाना चाहिए।

शुष्क लता

मास्टर उमादत्त सारस्वत कविरत्न

दिन याद हैं आते मुझे वह हा ! जब कोयलें आकर गाती यहाँ !
भ्रमरावलियाँ इठलाती हुई अति मंजुल वीण बजाती यहाँ !
तितली सखियाँ बनी अप्सरा-सी, मनमोहक नृत्य दिखाती यहाँ !
मधु-मक्खियाँ पी मधु, बावली हो, जी घड़ी दो घड़ी बहलाती यहाँ !

मिस ओस के हार ले मोतियों का, रजनीश क्यों आके पिन्हाता नहीं !
रवि, स्वर्णिम शाल सवेरे उढ़ा, नव-दूलहन क्यों है बनाता नहीं !
वसुधा पै सगे सब स्वार्थ के हैं, अपना अब कोई दिखाता नहीं !
तपता यहाँ ग्रीष्म ही है रहता, कभी हाय ! वसन्त क्यों आता नहीं !

अब मालिन क्यों जल-पात्र लिये, इस ओर न हाय ! निहारती है !
हँसती हुई प्रात में ऊषा-प्रिया, कभी आरती क्यों न उतारती है !
बरसात है आती सही, पर हा ! कृश-गात न मेरा सँवारती है !
विहगावलि भी अब आके कभी, विरुदावलि क्यों न उचारती है !

चिरसंगिनी वे सुमनावलियाँ, करती नहीं क्यों अठखेलियाँ हैं !
दुख में मुझे छोड़के जाने कहाँ, चल दीं कलियों-सी सहेलियाँ हैं !
कह 'शुष्क लता' ठुकराते सभी, वह हाय ! कहाँ रँगरेलियाँ हैं !
अब आँख उठाकर भी तो मुझे कभी देखती हा ! न नवेलियाँ हैं !

गान कैसा ?

श्रीकपिलेश्वर झा "कमल"

यह मनोहर गान कैसा ?
शुष्क मरुधर में बही है, यह अनाविल वारिधारा,
भावनाओं के जलधि में, डूबता संसार सारा।
आज सीमा के सभी, बंधन कटे, निस्सीम में हैं,
मूर्च्छना, उच्छ्वसित अब हुए मेरे प्राण ये हैं।
हृदय में सुनता अहो ! यह प्रेममय आह्वान कैसा ?
यह मनोहर गान कैसा ?
कौन-सी छवि खोल दृग के द्वार हिय में रम रही है ?
साधना साकार बनकर, साध्य ऊपर जम रही है।
तू रहे आराध्य, मैं तेरा पुजारी ही रहूँगा ;
कामना की वेलि के शुभ पुष्प अर्पित करूँगा।
वासना मन में बनी है, फिर भला यह ध्यान कैसा ?
यह मनोहर गान कैसा ?
चाँदनी पृथ्वी सती के कर रही शृङ्गार अविचल,
डाल पर बैठी पिकी के गान करते हृदय चंचल।
मलय मारुत अंगनाओं के मुखों से राग करता,
विश्व के कण-कण नवल अनुराग है मधुमास भरता।
यह समय शुभ मिलन का, दो प्रेमियों में मान कैसा ?
यह मनोहर गान कैसा ?
तुम मिलो या मत मिलो, अधिकार मेरा प्रेम का है,
'पी कहाँ' की रट, यही आधार चातक-प्राण का है।
मैं वियोगी, हृदय में मधु वेदना ही मानता हूँ ;
तितलियों के पंख-सी कोमल इसे मैं जानता हूँ।
द्वेषमय संसार में, यह प्रेम का सामान कैसा ?
यह मनोहर गान कैसा ?
भाव की जिस तूलिका से, शब्द के मैं चित्र रचता,
विश्व के भावुक जनों के हृदय में मधुमास मचता।
कार्य में परिणत उसे करना जभी हूँ चाहता मैं,
लोक-निंदा-सरित में हूँ डूबता अवगाहता मैं।
विवश हो मुख से निकलते शब्द ये जग-ज्ञान कैसा ?
यह मनोहर गान कैसा ?

कहानी

दुर्बोध्य

श्रीमंगलामोहन

(गत अंक से आगे)

(२)

द्वार के सामने खड़े होकर वृद्ध सरकार महोदय ने पुकारा—"दीदी मणि !"

ऊषा को अपनी ओर देखते ही बिना किसी भूमिका के वृद्ध बोले—"आपने मैनेजर बाबू को जवाब दिया है ?"

ऊषा के बोलने के पहले ही विजन बोला—"हाँ।"

एक बार विजन और एक बार ऊषा की ओर देखकर म्लानमुख से वह बोले—"सुन लिया, किंतु क्यों उनको काम से छुड़ाया गया, यह आपने नहीं बतलाया ? उन्होंने क्या कोई अन्याय किया ? उनके सम्बन्ध में किसी ने कोई शिकायत की ?"

"ना।"

"तब क्यों ?"

वृद्ध की तीक्ष्ण उज्ज्वल प्रश्नभरी दृष्टि के सम्मुख ऊषा विव्रत हो पड़ी। छोटा कर्मचारी होने पर भी यह आदमी बहुत दिनों से इस संसार में रहता आ रहा है। सतीकान्त बाबू स्वयं इसकी अनेक प्रकार से ख़ातिर करते चले आ रहे हैं। ऊषा भी ठीक नौकर करके उन्हें किसी दिन नहीं देख सकी। उसको नीरव देखकर वृद्ध महोदय ख़ुद ही बोले—"यह काम क्या अच्छा हुआ है देवी मणि ? उन्होंने कुछ अन्याय किया हो, ऐसा कुछ दिखलाई नहीं पड़ता। बिना दोष ऐसे आदमी को ....?"

तनिक रुककर फिर बोला—"उनके लिए कोई आवश्यकता तो नहीं है। उनके पास जो कुछ है, वह इतना काफ़ी है कि उनको नौकरी करने की आवश्यकता नहीं। किंतु उनके ऊपर तीन-चार परिवार निर्भर रहते हैं। उनका क्या होगा ?"

आग्रह से भरकर ऊषा सरकार महोदय की ओर देखती रही। पूछा उसने—"वे लोग कौन हैं, उनके कोई निजी लोग हैं ?"

"निजी लोग तो नहीं, कोई सम्पर्क भी ऐसा नहीं है। वे उनका प्रतिपालन भर करते हैं, उनका जो कुछ है, वह तो दूसरों ही के काम आता है।"

"उन्होंने क्या अपना वकील बनाकर आपको भेजा है ?"

विजन के रूढ़ प्रश्न से भीत होकर वृद्ध बोले—"जी नहीं।"

"यदि नहीं तो इतना विरोध प्रदर्शन करके आप हम लोगों का समय नष्ट करने क्यों आये ? आपको अपना कोई काम नहीं है ? जाइए।"

जवाब सुनकर सरकार महोदय चले गये। होनेवाले

मालिक विजन का प्रभाव यहाँ असाधारण है ! ऊषा उठकर जँगले के सामने खड़ी हो गई। ठीक पास ही फुलवारी है। फूलों से भरे एक कदम के पेड़ पर बैठकर केवल एक अज्ञातनामा पक्षी अत्यन्त मीठे स्वर में बोल रही थी। निरभ्र मेघाच्छन्न आकाश कई दिन की वर्षा के बाद आज प्रशान्त नीलिमा में समुज्ज्वल दीख रहा था। कई दिनों की अपेक्षा धूप का उत्ताप भी काफ़ी कम था, तब भी आज यह सब कुछ ऊषा के सामने किस प्रकार विषमय हो उठा है ? विजन कुछ दूर ही से उसे देखता रहा, फिर उठकर उसके पास आ गया और बोला—"कई दिन बाद आज बढ़िया धूप निकली है। चलो ज़रा घूम आयें !"

विजन की ओर फिरकर ऊषा बोली—"आप ही जायँ, मुझे अच्छा नहीं लगता।"

विजन का मुख कठोर हो उठा। वह बोला—"हठात्, इस अच्छा न लगने का क्या कारण है, ऊषा ?"

ऊषा ने जवाब नहीं दिया। तीव्रतर हँसी के साथ विजन बोला—"इसका कारण यह आदमी है, क्यों न तपन ?"

ऊषा एकदम दीप्त आँखों से विजन की ओर देखकर निःशब्द कमरे से बाहर चली गई।

× × ×

सारी बातें सुन चुकने पर सतीकान्त ने दीर्घ निःश्वास भरकर कहा—"बहुत बड़ा अन्याय कर आई, ऊषा !"

ऊषा के हृदय-मन में कुछ समय से यह बात सुई की तरह चुभ रही थी। वह अन्याय कर आई है ? अन्याय कर आई ? मन के सामने प्रतारणा नहीं चलती। इसलिए उसके अनेक यत्न करने पर भी प्रबल हवा में तृणखंड की भाँति उसकी सारी युक्तियाँ, सारे प्रयोग उड़ जाते थे। वह संगत काम कर आई है, मन इस बात को किसी तरह स्वीकार करना नहीं चाहता था। और आज उसके ठीक उसी पीड़ित मर्मस्थल पर सतीकान्त का यह आघात ! विवर्ण मन से क्षणभर पिता की ओर देखती रहकर, शक्ति संचय कर, ऊषा अपने काम का समर्थन करती चली—

"कोई अन्याय नहीं, बाबा ! बाबा ! उन्हें भगाकर केवल अपने सर्वनाश का द्वार बन्द किया है ?"

प्रबल चेष्टा के बावजूद भी उसकी बात से उसके कंठस्वर का मेल न हो सका। मानो स्वयं उसकी बात ही उसका व्यंग करने लगी हो। तीक्ष्ण दृष्टि से पुत्री के पांशु मुख की ओर देखकर पिता बोले—"सम्भव है, तुम यह समझ गई हो कि वे हम लोगों के सर्वनाश की योजना बनाया करते थे। परंतु बात यह है कि हम लोगों का जो कर्तव्य था, वह हम लोगों ने तो किया नहीं; हाँ, वह अवश्य हम लोगों के बदले करते जाते थे। उसके ऊपर अकारण ही तुम लोगों का विद्वेष था। इसी लिए उस दिन मैंने अत्यन्त अनिच्छा से तुम लोगों को पलाशपुर जाने दिया था। सोचा था, वहाँ जाकर उसका काम देखकर उसके सम्बन्ध में तुम्हारी धारणा बदल जायगी; किंतु मेरे समझने में भूल हुई थी। ऊषा, मैंने एक बार भी न सोचा था कि सचमुच तुम लोग, उसको काम से छुड़ा दोगी। कम-से-कम इस तरह का कुछ करने के पहले हमारी अनुमति लेने की आवश्यकता होगी, यह भी मेरी धारणा थी।"

ऊषा का सिर झुकता जा रहा था। मन को जितना ही समझाया जाय, अपराधी मन अपने को सम्पूर्ण रूप से निर्दोष करके सब समय खड़ा नहीं हो सकता। सतीकान्त बोले—उसने एक बार भी नहीं पूछा कि किस अपराध पर उसका काम छूटा ? कोई बात ?

"ना ! एक बात भी न बोले।"

ऊषा का कंठ-स्वर भर्राया प्रतीत हुआ। भरे गले से सतीकान्त बोले—"मुझको भी एक बार न बतलाया उसने ? सम्भव है कि सोचा हो उसके इशारे से ही—जो भी हो, घरद्वार जो कुछ भी था सब कुछ बेच दिया है, और कुछ नहीं ? किंतु अब वह गया कहाँ ? पलाशपुर में नहीं है, ठीक जानती हो ?"

"हाँ, वहाँ से आने के दिन भी उनको खोज लिया था। घरद्वार बेचकर जो रुपये मिले थे, वह सब अपने सेवासंघ को दे गये थे। उन्होंने जिस दिन घर-विक्री के रुपये पाये, उसके दूसरे ही दिन देश छोड़कर चले गये।"

"किंतु वह गया कहाँ ? मेरे पास भी तो एक बार नहीं आया। किंतु आता भी क्यों ? यहाँ उसके आने का मार्ग भी तो बन्द है। विना दोष के ही इतने बड़े अपमान का बोझ जब तुम लोगों ने उसके माथे पर डाल दिया—"

बात ख़तम होने से पहले ही सतीकान्त दृष्टि फेरकर दूर मेघाच्छन्न आकाश की ओर देखने लगे। ऊषा ने स्तब्ध भाव से पिता के व्यथा-आहत मुँह की ओर देखकर दूसरी ओर दृष्टि फेर ली!

दरवाज़े के परदे के पीछे से आने की सूचना देते हुए विजन कमरे में दाख़िल हुआ। सतीकान्त ने पूछा—"आज घूमने नहीं जा रहे हो विजन ?"

ऊषा की ओर इशारा करके विजन बोला—"इनसे कहता था, कितने दिन बाद आज कलकत्ते आये, आज एक बड़ा ट्रिप कर आवें! चलो ऊषा!"

पुत्री की ओर देख सतीकान्त बोले—"बहुत अच्छा तो है, जाओ घूम आओ।"

पिता की ओर विना देखे ही ऊषा बोली—"मुझे अच्छा नहीं लग रहा है, बाबा!"

सतीकान्त ने विस्मय से भरकर लड़की के गम्भीर मुख की ओर देख, मानो कुछ समझने की चेष्टा की। विजन के ललाट पर कुञ्चन रेखा खिंच आई। सतीकान्त बोले—"जब उसकी इच्छा नहीं, तब रहने दो। तुम्हीं जाओ, विजन।"

"ना, मेरा भी अकेले जाने का उत्साह नहीं है। यहीं बैठता हूँ।"

सतीकान्त अथवा ऊषा, कोई कुछ न बोला। इस नीरवता में क्रमशः कमरे की हवा भारी होती हुई लगी। विजन ने टेबुल के ऊपर से दो दिन पहले के तारीख़ का एक अख़बार उठाया, और पढ़ने लगा। ऊषा उसी प्रकार मुख नीचे किये बैठी-बैठी न जाने क्या सोचती रही। उसके विक्षुब्ध मुख की ओर क्षण भर देखते रहकर कोमल स्वर में सतीकान्त बोले—"जो हो गया, उसके लिए चिंता करना व्यर्थ है, ऊषा! अब जिस तरह उसका प्रतिकार हो, वह करना चाहिए। अगर कभी उसे पा जाऊँ—"

सतीकान्त रुके, क्षण भर स्तब्ध रहकर बोले—"मैं दूर रहता हूँ, दुखी प्रजा के सुख-दुःख की ओर कोई लक्ष्य नहीं करता, इसीलिए एक योग्य व्यक्ति के हाथ में उसका भार सौंपा था। अत्यन्त निश्चिन्त होकर बैठा था। उसका जो कर्तव्य था, वही वह करता जा रहा था। हम बहुत दिनों से उसके प्रति विरक्त हो उठे थे, किंतु मैंने सोचा था तुम्हारा भ्रम एक दिन दूर हो जायगा।"

"किसकी बात कहते हैं ? उसी स्काउंड्रल की बात है क्या ?"

अख़बार से आँख उठाकर विजन ने सतीकान्त की ओर देखा। सतीकान्त ने केवल सिर हिला दिया। विस्मय से भरकर विजन बोला—"उसको बिदा कर देने से आप दुखित हो रहे हैं ? आश्चर्य!"

प्रायः एक व्यक्ति की व्यथा दूसरे व्यक्ति के निकट विस्मय की ही वस्तु होती है। सतीकान्त मौन ही रहे। यह प्रसंग इस समय प्रीतिकर न होगा, यह विजन ने भी समझा। इसलिए बात की धारा दूसरी ओर मोड़कर वह बोला—"मैं सोचता हूँ, पटना हाईकोर्ट में जाकर प्रैक्टिस करूँ। यह बंगाल-देश मुझको एकदम अच्छा नहीं लगता। तनिक भी नहीं।"

"कारण ? बंगाल-देश के पुत्र होकर बंगाल तुम्हें अच्छा नहीं लगता ?" मृदु अनुयोग के साथ सतीकान्त ने कहा।

ज़ोर से सिर हिलाकर विजन बोला—"ना, अपने को बंगाल-देश का पुत्र कहकर मैं गौरव नहीं अनुभव करता, वरन् कुण्ठा का ही अनुभव करता हूँ। संसार में बंगालियों का आसन कितना नीचा है।"

"यह उसका दुर्भाग्य है केवल! किन्तु तुम जानते हो, विजन, अपने को बंगाली कहकर मैं कितना अधिक गौरव का अनुभव करता हूँ!"

"ऐसा अनुभव करने का कारण ? बंगाली जो संसार की सभी सभ्य जातियों से हीन—।"

उसकी बात समाप्त न करने देकर, अधीर भाव से सतीकान्त बोले—"मैं यह बात नहीं स्वीकार करता। इस बंगाल को मैं बहुत प्यार करता हूँ, बहुत श्रद्धा करता हूँ। बंगाल की शक्ति में मेरा बहुत प्रबल विश्वास है। इच्छा करके बंगाली न कर सके,

ऐसा कोई काम नहीं है। किसी से भी वह किसी अंश में कम नहीं।"

तनिक रुककर, फिर क्षण ही भर बाद बोलने लगे—"दूर अतीत की बात छोड़ भी दी जाय, तब भी जो जाति विवेकानन्द, चित्तरंजन, जतीन्द्रदास पैदा कर सकती है, उसकी शक्ति में कौन दुस्साहसी संदेह कर सकता है ? हाँ, बंगाली हतभागे अवश्य हैं; क्योंकि जितने बड़े-बड़े आन्दोलन हैं, सबका प्रथम स्पन्दन जागृत करते हैं ये, किन्तु इनके सिर पर लाञ्छन की ही झड़ी लगी रहती है। सब कामों में अग्रगामी होते हैं ये, फिर भी इनका स्थान सबसे नीचे है ! कारण—" बात ख़तम न करके सतीकान्त अन्यमनस्क दूर की ओर देख न जाने क्या सोचने लगे।

होठों में मानो एक विद्रूप हास्य भरकर विजन ने पूछा—"बंगाली इतने बड़े, इतने महान् हैं, यह बात किसी और को कहते नहीं सुना है ! मेरी तो धारणा थी, असंख्य दोष उनमें हैं और इसी लिए उनकी दुर्दशा भी असीम है।"

"दोष क्यों नहीं हैं, विजन ! अनेक-अनेक दोष हैं उनमें, तब भी उनके में जो कुछ है, विजन, लगता है, तुमने देशी साहित्य के सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं हासिल की है। एक प्रसिद्ध नाट्यकार बंगालियों के सम्बन्ध में एक बहुत ही खरी बात कह गये हैं। एक बंगाली महान् शक्ति है....। जगत् में अद्वितीय; किन्तु संयुक्त रूप से दस बंगाली अत्यन्त तुच्छ, हीनातिहीन। मुझे लगता है, बंगाली चरित्र के सम्बन्ध में इतनी सही बात और कोई नहीं। यह उनकी त्रुटि है, तब भी बंगाली को मैं बड़ी श्रद्धा करता हूँ, उसकी दुर्दशा मुझे जितनी व्यथा देती है, उसका गुण उतना ही अधिक मुग्ध करता है।"

सतीकान्त चुप हो गये। व्यंगपूर्ण हँसी से दीप्त मुख से विजन बोला—"आपका यह स्वजाति-प्रेम प्रशंसनीय है।"

ऊषा इतनी देर तक चुपचाप पिता की ओर देखती रही थी। अब मुँह फेरकर बोली—"स्वजाति-प्रेम क्या बहुत बड़ा दोष है, विजन दादा ?"

"वह जब अकारण पक्षपात बन जाय, तब दोष के अतिरिक्त उसे और क्या कहा जा सकता है ?"

"ना, कहने से आपको कौन रोकेगा, किन्तु अकारण विद्वेष भी बहुत प्रशंसा की बात नहीं है। बैठिए, मैं चाय लाने को कह आऊँ।"

विजन के रुष्ट मुँह की ओर विना देखे ही ऊषा कमरे के बाहर हो गई।

विजन का मुँह काला हो उठा। बोला—"कई दिन से यह देख रहा हूँ कि ऊषा में एक बड़ा परिवर्तन हुआ है। मन की गति उसकी बहुत बढ़ती जा रही है। यह तो ठीक नहीं है।"

सतीकान्त ने जवाब नहीं दिया। क्षण भर प्रतीक्षा करके अधीर भाव से विजन बोला—"इसका कारण आप कुछ अनुमान कर सकते हैं ?"

उसके बात करने के ढंग से विचलित होकर भी सतीकान्त ने स्वाभाविक प्रशान्त भाव से ही जवाब दिया—"ना।"

"यह आपके उन्हीं प्रिय मैनेजर के साहचर्य का फल है। कई दिन तक उनके साथ बात करने से ही इनका रुख़ एकदम कठोर हो उठा।"

× × ×

मनुष्य की हार्दिक कामना कभी व्यर्थ नहीं जाती। अकारण ही एक दिन, नितान्त अप्रत्याशित भाव से तपन की ऊषा से भेंट हो गई। किसी कारण उस दिन निर्दिष्ट समय से बहुत पहले ही ऊषा का कालेज बन्द हो गया था। ऊषा ने घड़ी की ओर देखा। घंटे भर से पहले उसकी गाड़ी के आने की सम्भावना नहीं थी। अमिता उसके साथ ही पढ़ती थी, वह भी घर से मोटर पर ही आती-जाती थी। इधर-उधर देखकर एक बार गाड़ी के लिए व्यर्थ अनुसंधान करती हुई बोली—"मुझी से भूल हुई। शोफ़र की कोई दिव्य दृष्टि तो है नहीं, यह पहले ही समझ लेना चाहिए था। किन्तु कितनी देर तक खड़ा रहा जायगा।"

ऊषा उसके पास ही थी, बोली—"खड़ी न रह सको तो बैठ जाओ न। थोड़ी देर तक घूमा-फिरा जाय।"

"ना भाई, मैं तुम्हारी तरह नहीं हूँ। मेरा 'हार्ट'

कमज़ोर है। 'पलपिटेशन' होने लगेगा। इससे अच्छा एक काम किया जाय। पैदल ही चलकर घर पहुँच जाया जाय।"

प्रबल उत्साह से ऊषा मानो उबल पड़ी। बोली—"नाइस प्रोपोज़ल! आया, आया चलो।"

अमिता का हाथ पकड़कर उसे खींचकर ऊषा चल पड़ी। कालेज से अमिता का घर बहुत दूर नहीं था। चितरंजन एवन्यू के पास आकर वह बिदा हो गई। ऊषा दक्षिण की ओर को चल पड़ी। रास्ते की दुकान के सम्मुख खड़ा होकर एक युवक बात कर रहा था। ऊषा किनारा खींचकर जाती हुई सहसा खड़ी हो गई। इच्छित वस्तु खोज पाने पर जैसा गम्भीर आनंद होता है, वैसा ही आनन्द पहले दीप्त हो उठा। उच्छ्वसित शब्दों में वह बोली—"तपन बाबू।" तपन इतनी देर तक उसे देख न पाया था। पुकार सुनकर उलटकर देखा और विस्मय से भरकर बोला—"ओह! यह आप!"

"हाँ, मैं हूँ। आपका क्या समाचार है। बतलाइए! कहाँ हैं, किस तरह हैं। किसी को जताये बिना ही हठात् वहाँ से क्यों चले आये? बाबा के पास नहीं गये क्यों? आजकल क्या काम करते हैं? चलिए हमारे घर।"

ऊषा के अविरल वाक्य-धारा से तपन को यथेष्ट विस्मय हुआ। उसको देखकर चन्द्रोदय उच्छ्वसित उदधि की तरह ऊषा का चित्त भी आज क्यों ऐसा पुलक-चंचल हो उठा था, यह भी वह नहीं समझती। मन में मात्र इतना ही हुआ, मानो पाषाण-जैसा एक भारी बोझ उसके कलेजे पर से उतर गया। जिस अपराध की चेतना से उसका मन कठोर हो उठा था, शायद इतने दिनों बाद उसके प्रतिकार का सुयोग आने ही से वह इतनी प्रसन्न हो उठी थी। किसी के तात्कालिक भाव से भी मनगढ़ी युक्ति द्वारा सभी चीज़ों का कारण निकाल लिया जाता है। साथी लड़के से एक-दो बातें करके तपन तुरन्त दूर खिसक आया। ऊषा की बात का उत्तर न देकर वही प्रश्न कर बैठा—"काका बाबू अच्छे हैं? आप इस तरह चल कहाँ रही हैं?"

"घर! किन्तु और बातें फिर होंगी। आप चलिए, बाबा आपके लिए अत्यन्त व्यस्त हो उठे हैं।"

"मेरे लिए?"

तपन ने एक बार उसकी ओर देखकर आँखें फेर लीं। सहसा ऊषा का मुख विवर्ण हो उठा। क्लिष्ट-कंठ से वह बोली—"ये बातें बाबा के पास ही सुन लीजिएगा। केवल एक बात कहना चाहती हूँ, हम लोगों ने आपके ऊपर जो अन्याय किया था, बाबा उसके लिए उत्तरदायी नहीं हैं। इतना ही नहीं, वे इस विषय में तब तक कुछ जानते भी न थे। आप उन्हें ग़लत न समझिएगा।"

मेघ-मुक्त आकाश की भाँति तपन का मुख उज्ज्वल हो उठा। शुभ्र-वस्त्र के ऊपर काले धब्बे की तरह, जहाँ असीम श्रद्धा होती है, वहाँ बिंदुमात्र त्रुटि भी बहुत बड़ी होकर सामने आती और मन को क्षुब्ध करती है। विस्मित मुख से वह बोला—"भाग्य ही से आज आपके साथ भेंट हो गई। न होती तो—"

"न होती तो बाबा के सम्बन्ध में यह ग़लत धारणा आपके मन में रह जाती। अन्याय मैंने किया और दोषी हों बाबा? क्या ही अच्छा विचार आपने किया था?"

"किंतु विचारक को उसकी भूल यदि न समझाई जाय तो वह किसका दोष कहा जायगा?"

"दोष विचारक का ही है, यदि वह बिना समझे ही विचार करे। उसको क्या समझाया जाय और समझाने में भी तो भूल हो सकती है।"

बात करते-करते वह अग्रसर हो रहा था। थोड़ी ही दूर आगे सतीकान्त का घर था। घर का कुछ भाग दिखलाई भी पड़ने लगा था। एक दुबिधा के साथ तपन बोला—"मुझे क्या सचमुच ही आपके घर जाना होगा?"

"वाह! इतनी देर बाद यह बात? आप भी अच्छे आदमी हैं!"

"किंतु, लगता है, यह ठीक न होगा।"

"क्यों बतलाइए तो सही?"

ऊषा कुछ विस्मय और कुछ विरक्ति के साथ उसकी ओर देखने लगी।

क्षणभर चुप रहकर तपन बोला—"विजन बाबू क्या मुझे देखकर ख़ुश होंगे ?"

ऊषा रुकी । कंठस्वर में तनिक शक्ति भरकर बोली—"आपको अपने घर में चलने को कह रही हूँ, विजन बाबू के घर में नहीं ।"

तपन कुछ बोला नहीं । विजन की इच्छानुसार ही वह काम से छुड़ाया गया था, यह बात कहना याद करके भी वह रुक गया और ऊषा के साथ-साथ चलता गया ।

× × ×

घर में पाँव रखते ही उस दिन विजन को लगा मानो उसके सर्वांग पर किसी ने खौलता हुआ पानी छिड़क दिया हो । ठीक सामने ही दरवाज़े की ओर पीठ किये तपन बैठा था । उसके हाथ में एक अलबम था । अत्यन्त तन्मय भाव से वह जिस तस्वीर को देख रहा था, वह ऊषा का ही स्केच था । तपन को विजन के निःशब्द आगमन का आभास न लगा । विजन दो मिनट तक स्तब्ध भाव से उसकी ओर देखता रहा ; बोला—"देखता हूँ, तस्वीर ने आपको बहुत ही तन्मय कर रक्खा है ?"

अचकचाकर तपन उसकी ओर फिरा, व्यस्त भाव से उठ खड़ा होकर बोला—"नमस्कार, बैठिए । किंतु आज आपके आने में देर हुई ।"

विजन कुर्सी खींचकर बैठ गया । फिर बोला—"दो महीने से जिसे रोज़ ही देखते हैं, उसकी तस्वीर आपको इतना तन्मय क्यों किये हुए है ?"

तपन कुंठित हो उठा । विजन की बात में जो एक प्रच्छन्न इंगित था, वह उसे भी समझ सका । आरक्त मुख से वह बोला—"रोज़-रोज़ जिसको देखा जाता है, उसकी तस्वीर क्या—"

अन्त तक बात न सुनकर ही विजन बोल उठा—"तस्वीर देखने से मैं आपको मना नहीं करता । आप लाख बार देखिए न । तब भी आपके देखने के भीतर एक अत्यन्त विचित्रता तो है ही ।"

कोई क्षमा-हीन अपराध करते हुए पकड़े जाने पर जैसे देखता है, उसी तरह शंका-व्याकुल मुख से तपन विजन की ओर देखता रहा । विजन बोला—"जाने दीजिए ये सब बातें । ये सब लोग कहाँ हैं ?"

"काका बाबू घर में नहीं हैं । ऊषादेवी अभी तक इधर नहीं आई हैं ।"

"यह कैसी बात ! आप आये हैं तब भी वे नहीं आईं ? मालूम होता है, उन्हें ख़बर नहीं मिली ।"

विजन की बातें धीरे-धीरे व्यंगात्मक मार्ग से ही चलती रहीं । तपन विव्रत हो उठा ।

विजन असहिष्णु भाव से उठकर एक बार प्यानो के सामने गया ; उसके बाद न-जाने कौन-सी बात मन में आने से व्यग्र भाव से बोला—"अच्छा, आप क्या आजकल कुछ करते नहीं हैं ?"

"करता क्या हूँ, एक स्कूल में मास्टरी करता हूँ ।"

विजन के मुख पर से अन्धकार का आवरण बहुत कुछ खिसक चला । और कुछ न बोलकर वह घर के भीतर गया । ऊषा इधर ही आ रही थी । दूर से ही उसकी आवाज़ सुनाई पड़ी—"कब आये विजन दादा ?"

विजन की बात भी बाहर सुनाई पड़ी ।

"मैं तो अभी आया हूँ, किंतु एक अन्य सम्मानित अतिथि तुम्हारी राह देखते हुए बहुत देर से बैठे हुए हैं । उनसे इतनी देर तक प्रतीक्षा कराते रहना तुम्हारे लिए उचित नहीं है । आतिथ्य में त्रुटि होने से अतिथि क्षुब्ध हो सकते हैं ।"

तपन का मुख लाल हो उठा, साथ ही ऊषा की बात सुनाई पड़ी ।

"कोई भय नहीं विजन दादा । अतिथि की उदारता के प्रति निःसंशय होने से ही उन्हें इतनी देर तक अकेला रख सकी हूँ । किंतु तुम्हारी आहट पाते ही दौड़ी आई हूँ । क्षमा करने की शक्ति क्या सबमें एक-सी होती है ? कुछ लोग साधारण त्रुटि को भी न सहकर तुमुल काण्ड उपस्थित करते हैं और कुछ लोग असाधारण भूल होने पर भी अनदेखी कर जाते हैं ।"

"ऊषा !"

"तुम क्या आज यहीं खड़े रहोगे विजन दादा ? कमरे में आओ ।"

ऊषा के भीतर आते ही उठ खड़ा होकर तपन बोला—"मैं अब जाता हूँ, मुझे एक काम है ।"

उसके व्यथा-आहत मुख की ओर देखकर ऊषा बोली—"आप अभी क्यों जाना चाहते हैं, यह मैं जानती हूँ।"

व्याकुल भाव से तपन बोला—"आप मुझे ग़लत न समझेंगी। मुझे सचमुच कुछ काम है।"

क्षणभर स्तब्ध रहकर ऊषा बोली—"जाना चाहिए तो बाधा न दूँगी। किंतु भूल आप भी कुछ कम नहीं कर रहे हैं।"

तपन बात को ठीक तरह समझ न सका। वह विना कुछ पूछे घर से बाहर चला गया।

विजन कमरे में आकर धीर-शान्त भाव से ऊषा के पास ही सोफ़े के एक किनारे बैठ गया। विचक्षण चिकित्सक की दृष्टि से वह बड़ी देर तक ऊषा के पीले मुख की ओर देखकर न जाने क्या समझने की चेष्टा करता रहा। सहसा उठ खड़ी होकर ऊषा बोली—"मैं पढ़ने जा रही हूँ विजन दादा! मेरी परीक्षा आ पहुँची है।"

विजन ने तुरन्त उत्तर दिया—"जाओ मुझसे तो इस सम्बन्ध में कोई सहायता हो नहीं सकती, हाँ, इन सज्जन के रहने से अवश्य ही तुम्हें अनेक सुविधा होती। स्कूलमास्टर हैं न, इसलिए पढ़ाने का अभ्यास अवश्य होगा?"

ऊषा ने सहज भाव से कहा—"क्यों न, ऐसे मास्टर की छात्री होना कम सौभाग्य की बात नहीं है! जो दुर्व्यवहार उनके साथ किया, उसके बाद उनसे बोलने का मुँह तक नहीं रह गया है; किंतु क्या ही अच्छा होता, यदि मैं उनकी छात्री होती। पर वह मार्ग तो मेरे लिए बन्द है।"

रूक्ष-स्वर से विजन बोला—"इसके लिए इतना दुःख करने की ज़रूरत? भूल का संशोधन कर लो। वे तो एक बार कहने से ही मास्टरी से इस्तीफ़ा देकर पलाशपुर दौड़े हुए चले जायँगे।"

स्थिर नेत्रों से कुछ देर तक उसकी ओर देखकर ऊषा बोली—"संसार में सभी आत्मसम्मान-शून्य नहीं होते, विजन दादा! आपका ख़याल है कि बाबा ने पलाशपुर लौट जाने के लिए नहीं कहा है? कम-से-कम अपनी मर्यादा को विसर्जित करके चलने की नीचता उनके में नहीं है। इसलिए अनेक लोगों से अधिक मैं उनकी श्रद्धा करती हूँ।"

बात विना ख़तम किये ही ऊषा दरवाज़े की ओर बढ़ी। विजन ने पुकारा—"जाओ नहीं ऊषा। एक बात सुन लो।"

ऊषा खड़ी हो गई। विजन उसके पास जाकर कोमल स्वर में बोला—"तुमको क्या हो गया है ऊषा! कुछ दिन से देखता हूँ, तुम मेरे ऊपर इतनी विरक्त हो। क्यों? किसी कारण क्या मैंने तुम्हें कोई कष्ट दिया है? सच बतलाओ!"

आहत आघात के बदले आघात न करके आघात का कारण पूछने पर यह सम्भव नहीं कि आघात-कारी कुण्ठित न हो पड़े। विजन के स्निग्ध कंठ और व्यथित मुख ने ऊषा के दीप्त चित्त में अनेक परिवर्तन पैदा कर दिया। कुछ अप्रतिभ भाव से वह बोली—"ना, आप मुझे कौन कष्ट देंगे?"

"तब? तब क्यों तुम ऐसी हो गई, ऊषा?"

"कहाँ, कुछ तो हुआ नहीं, अगर आपके लिए कुछ अनुचित कह गई हूँ, तो उसके लिए आप मुझे क्षमा करें। मेरा शरीर और मन दोनों ही अस्वस्थ हैं।" और कुछ सुनने की अपेक्षा न कर वह त्रस्त पद से कमरे के बाहर चली गई।

विजन नीरव भाव से उसकी ओर देखता हुआ न जाने क्या सोचने लगा।

× × ×

रास्ते में ही तपन ने देखा सतीकान्त की 'मिनार्वा' कार उसके घर के सामने खड़ी है। अपने दरवाज़े पर उसके आने का कारण भी उसने अपने मन में निश्चय कर लिया। सम्भव है, सतीकान्त बाबू ने ख़बर लेने के लिए किसी को भेजा हो; क्योंकि वह कई दिनों से उनके यहाँ गया नहीं था। तेज़ी से रास्ता पार करके तपन घर के बिलकुल पास आ गया। भीतर जाते-जाते उसने विस्मय के साथ देखा कि गाड़ी ख़ाली थी। अत्यन्त विस्मय के साथ घर में प्रवेश करते हुए सीढ़ी के सामने आते ही तपन की गति सहसा निश्चल हो गई। क्षणभर के लिए

मानो उसको अपनी दृष्टि पर विश्वास नहीं हुआ। स्तम्भित की भाँति वह खड़ा रह गया। तपन के पुराने नौकर शिवचन्द्र के साथ बात करते-करते हँसते हुए ऊषा ऊपर से उतरती आ रही थी।

तपन को देखकर उलाहना के स्वर में बोली—"बड़े अच्छे आदमी हैं आप। पूरे एक घंटे से आकर बैठी हूँ और आपका पता ही नहीं है। किन्तु, और बातें नहीं करनी। तुरन्त ही उठकर चलिए मेरे कार में बैठिए, आपको अरेस्ट करके एकदम बाबा के सामने ले जाने पर ही मेरी ड्यूटी ख़तम होगी।"

तपन बोला—"किन्तु इतने भर के लिए आपके आने की तो ज़रूरत नहीं थी।"

"थी क्यों न! अपराधी जैसा होता है, वैसे ही लोग गिरफ़्तार करने भेजे जाते हैं। डी० एस० पी० तक को जाना होता है। मैं न आती तो क्या आप जाते? ५-६ दिन बीत गये हम लोगों के घर की तरफ़ भी आप नहीं गये। बोलिए क्यों?"

ऊषा के मुँह की ओर एक बार तपन ने देखकर दृष्टि नीची कर ली। मधुर स्वर में वह बोला—"समय नहीं मिला, ऊषादेवी!"

"देखिए, झूठ बोलना हर समय ख़तरे से ख़ाली नहीं होता। आपका क्या ख़याल है कि यहाँ एक घंटे मैंने आपके घर में बैठकर बेकार ही काट दिया है? यहाँ कई दिन से आप जो ज़रूरत को छोड़कर कहीं बाहर नहीं जा रहे हैं, वह ख़बर भी मुझे मालूम है और घर में भी सोये-सोये केवल जँगले की राह आकाश की ओर देखते-देखते सारा दिन काटते हैं, यह भी मुझे अज्ञात नहीं है। इसलिए समय न पाने का बहाना ज़रूर अचल है।"

"जी कुछ इस प्रकार—"

"ओह! समय न पाने का बहाना न चला तो फिर जी ख़राब होने की बात रही! और भी सोच लीजिए क्या-क्या कहना है।"

तपन चुपचाप दूसरी ओर देखता रह गया। व्यग्र भाव से ऊषा ने कहा—"सोचते क्या हैं, चलिए।"

"आज न जाने से क्या काम न चलेगा?"

"ना! किन्तु आपको जाने में ही इतनी आपत्ति क्यों है? सचमुच ही यदि जाना आपको पसन्द न हो, तब मैं निश्चय ही ज़ोर न डालूँगी।"

ऊषा का कण्ठ-स्वर व्यथा के आभास से भारी हो उठा। व्यस्त भाव से तपन बोला—"आप यह क्या कहती हैं? मुझे जाना अच्छा न लगेगा, क्या यह सम्भव है?"

"तब चलते क्यों नहीं? आज ही इतनी आपत्ति क्यों करते हैं?"

"कुछ नहीं, चलिए! किन्तु—"

"और भी यदि कुछ कहना है तो घर चलकर सुनूँगी। इस वक़्त बस चुपचाप साथ चलिए।"

सारा रास्ता प्रायः चुपचाप ही कटा। ऊषा ने ही ड्राइवर की जगह ले रक्खी थी। उसके पास बैठा हुआ तपन आज न जाने कितनी विरक्ति अनुभव करता हुआ क्रमशः अधीर होने लगा। घर के सामने ही लान पर बैठकर सतीकान्त अपने एक पुराने मित्र के साथ बातचीत कर रहे थे। विजन भी अनुपस्थित न था। ऊषा और तपन के ऊपर आज कितनी आँखें एक साथ ही जा पड़ीं। विजन का सारा मुख लाल हो उठा। उन्नत उच्छ्वसित स्वर में ऊषा बोली—"तपन बाबू को पकड़ लाई बाबा! कहते थे, आने की इच्छा न थी। यदि मैं न जाती तो न मालूम कितने दिनों तक यहाँ न आते। कालेज से लौटते उनके घर चली गई थी।"

तपन का मुख सूखता जा रहा था। भूखे सिंह की दृष्टि के सामने भीत हिरनी की तरह उनकी आँखों में आर्त, असहाय भाव प्रस्फुटित हो रहा था। स्नेहभरे स्वर में सतीकान्त ने कहा—"ऐसी बात! तपन, तुम्हें हुआ क्या है? इतने दिनों तक आये क्यों नहीं?"

"कहिए, कहिए कि समय नहीं था! जानते हैं बाबा, मुझसे कहा था कि आने का समय न मिला किन्तु इनके घर से ख़बर मिली कि समय के अभाव में केवल सोये रहकर ही इन्होंने ये कई दिन काटे हैं।"

सतीकान्त हँस पड़े, विजन को छोड़कर सबके मुखों पर हँसी की रेखाएँ खिच गईं। ऊषा ने एक बार पिता की ओर देखकर कहा—"तुम्हें बाबा मालूम होता है, अब तक चाय नहीं मिली? मैं अभी आई।"

तेज़ी से वह घर के भीतर चली गई। सतीकान्त के पास की ख़ाली कुर्सी खींचकर तपन बैठ गया। अब तक सबसे अधिक विजन ही बातचीत करता आ रहा था। उसके आकस्मिक नीरवता से विस्मित होकर सतीकान्त बोले—"ऐसे चुप क्यों हो गये विजन ?"

एक बार तपन की ओर देखकर अस्पष्ट स्वर में विजन कुछ बोला, जो ठीक समझ में न आ सका। उपस्थित लोगों ने विस्मय से भरकर उसकी ओर देखा।

ऊषा थोड़ी ही देर बाद वापस आ गई। नौकर चाय का सामान रख गया था।

ऊषा ख़ाली कपों में चाय डालने लगी। विजन उठकर बोला—"मुझे काम है, मैं चला।"

"चाय तो पीते जाओ। ऊषा, विजन को सबसे पहले दे दो।"

उसके व्यवहार से सतीकान्त का मन विस्मय के भार से दबा हुआ होने पर भी वे सहज भाव से ही बोले।

ज़ोर से सिर हिलाकर विजन बोला—"ना, मैं देर नहीं कर सकता। चाय रहने दीजिए और देखिए—"

सतीकान्त की ओर देखकर ही वह बोला—"मा ने आपको एक बार बुलाया है। कब चल सकेंगे ?"

"कल सवेरे ही चलूँगा। किन्तु ऐसा कौन काम आ पड़ा है कि तुम एक 'कप' चाय पीने का समय नहीं निकाल पा रहे हो ? बैठो भाई, चाय तो पी लो।"

"ना, मैं जा रहा हूँ। आप आयेंगे न ?"

सामने के 'टी प्वाय' पर से हैट उठाकर वह वहाँ से चला गया। उत्सव-उच्छल कक्ष में आकस्मिक रूप से आये हुए दुःसम्वाद की भाँति उसके चले जाने से सबके मन में विक्षोभ जाग्रत् हुआ। तपन का माथा और भी नीचे झुक गया।

अस्फुटित स्वर में ऊषा बोली—"अभद्र ! बातचीत फिर उस तरह न चल सकी। चाय पीकर अपने मित्र से बिदा लेते हुए सतीकान्त बोले—"विजन की मा ने मुझे बुलाया है, न हो आज ही मिल आऊँ।"

पिता की ओर देखकर शान्त स्वर में ऊषा बोली—"हठात् तुम्हें अपनी मा के पास जाने को कहने का कारण क्या है ?"

"वह विजन की शादी के लिए व्यस्त हो उठी हैं।"

"किन्तु, उसके लिए उन्हें तुम्हारी आवश्यकता क्यों होगी बाबा ?"

सतीकान्त हँस पड़े।

"मेरी आवश्यकता न होगी ? तुम्हीं उसकी बहू होगी।"

बात ख़तम होने से पहले ही तीक्ष्ण स्वर में ऊषा बोली—"ना, बाबा ! ना, यह होगा नहीं। तुम उन लोगों से कह दो।"

थोड़ी देर तक निर्वाक्य भाव से पुत्री की ओर देखते रहकर सतीकान्त बोले—"क्या कहती हो ऊषा, यह कैसे होगा ? यह बात तो प्रायः स्थिर हो चुकी है।"

"ना, न। क्यों नहीं होगा ? तुमने तो कभी उन्हें वचन नहीं दिया ?"

"वचन तो नहीं दिया, किन्तु—किन्तु तू क्या विजन को पसन्द नहीं करती ?"

पिता की ओर फिर देखकर स्थिर स्वर में ऊषा बोली—"ना, बिलकुल नहीं।"

विजन के जाने के व्यवहार को ही सबका कारण समझकर एक बार हँसकर, बात को छोटी करने के लिए कुछ कहने जा ही रहे थे कि पुत्री का पत्थर की तरह कठोर मुख देखकर रुक गये। कारण जो भी हो, किन्तु यह आपत्ति अविचल रहेगी—यह समझने में उन्हें देर न लगी।

× × ×

एक दिन कालेज जाने के लिए घर से बाहर होते ही ऊषा ने देखा, तपन आ रहा है। प्रसन्नमुख से उसका सादर स्वागत करते हुए वह घर के भीतर आ गई। अकारण ही उसका मुख दीप्त हो उठा। तपन बैठ गया। ऊषा के कुछ बोलने से पहले ही वह बोला—"कुछ दिन के लिए बाहर जा रहा हूँ। न आने से काका बाबू व्यस्त होंगे, इसी लिए उनको सूचित करने आया हूँ। वे घर में हैं तो ?"

ऊषा का प्रसन्नमुख सहसा म्लान हो उठा। वह बोली—"कहाँ जा रहे हैं ? सहसा बाहर जाने की क्या आवश्यकता हो आई ?"

"आवश्यकता ?"

तपन क्षणभर तक इधर-उधर करके बोला—"यहाँ से कुछ दूर पर एक गाँव में चेचक का भारी प्रकोप फैला हुआ है, ऐसा सुनने में आया है। हैज़ा भी फैल रहा है। इसका कारण यह है कि वहाँ से नदी बहुत दूर है। गाँव में तालाब अथवा जल की कोई अन्य व्यवस्था नहीं के बराबर है। हर बार इसी समय ये दोनों रोग इकट्ठे ही प्रकट होते हैं, और गाँव का भार बहुत कुछ हलका कर जाते हैं। वहाँ के रहनेवाले बहुत ही ग़रीब हैं। इसलिए रोग की हालत में भगवान् का नाम लेकर पड़े रहने के अतिरिक्त उनके पास और कोई चारा नहीं है।"

बात ख़तम करके तपन हँसा। प्रकाश के नीचे से गुप्त अन्धकार की तरह इस हँसी के अन्तराल में जो घनीभूत वेदना निहित थी, उसे समझने में ऊषा को देर न हो सकी। तपन कहने लगा—"ख़बर मिली है कि इस बार अभी से वहाँ ये बीमारियाँ शुरू हो गई हैं। उस पार से डाक इस बार ज़रा जल्दी आ गई। इसलिए—"

"इसी लिए क्या आप उनकी सेवा करने जा रहे हैं ?"

"एकदम सेवा तो नहीं, किंतु मैं जा रहा हूँ—"

"एकदम सेवा तो नहीं, फिर भी आप जा रहे हैं! अच्छी बात है। आपके काम में बाधा डालना नहीं चाहती, किंतु पूछती हूँ, क्या इस सेवा के व्रत में आपका कोई और साथी भी है ?"

"मौजूद नहीं, जो कुछ लड़के मेरे सब काम में सहायक हुआ करते थे, वे सभी मुझसे आजकल बहुत दूर हैं, यह तो आप जानती ही हैं। और संगी कहाँ पाऊँ। किंतु इससे हानि ही क्या। वहाँ मैं अनेक बार जा चुका हूँ। सब कुछ जाना सुना है। कोई भी असुविधा न होगी।"

"किंतु यदि आपको कोई दुःख-सुख होगा तो कौन देखेगा ?"

तपन हँसकर बोला—"मेरे दुःख-सुख होने की कोई सम्भावना तो नहीं दिखलाई देती, किंतु यदि बाद को ऐसा कुछ हुआ तो देखा जायगा।"

"अच्छी बात है! किंतु क्या आपका जाना तय है ?"

"तय ही है; और लगभग घंटे ही भर बाद मेरी ट्रेन है।"

ऊषा क्षणभर मौन रहकर न जाने क्या सोचती रही। फिर बोली—"ज़रा बैठिए तपन बाबू, मेरे आने से पहले चले न जाइएगा।"

त्रस्त-पद से वह कमरे से बाहर हो गई। तपन ने टेबुल पर से अख़बार उठा लिया। ऊषा को लौटने में देर न लगी। उसके पाँव के शब्दों से चौंककर मुँह उठाते ही असीम विस्मय से तपन स्तम्भित रह गया। क़ीमती साड़ी, ब्लाउज़ आदि को त्यागकर नितान्त सीधी-सादी एक काले किनारे की साड़ी और कपड़ा ऊषा ने पहन रक्खा था। शरीर पर मूल्यवान् आभूषण भी अब नहीं रह गये थे। हाथ में था एक सूटकेस। नौकर ने होलडाल लाकर कमरे के एक किनारे रख दिया। ऊषा ने हाथ उठाकर उससे कहा—"उसको एक बार ही कार में उठाकर रख दो। मैं जा रही हूँ। चलिए—"

तपन आश्चर्य के साथ बोला—"कहाँ ?"

"कहाँ! यह तो आप जानें। जहाँ चल रहे थे, चलिए वहीं चलें।"

अवाक् होकर कई क्षण उसकी ओर देखते रहकर, तपन बोला—"दिमाग़ ख़राब हो गया है न क्या ? आप कहाँ जायँगी ?"

"आपके साथ। आप जहाँ जायँगे।"

"मेरे साथ!"

"हाँ आपके साथ। आपने क्या सोच रक्खा है कि मैं आपको इतने भयानक असुख के बीच अकेली छोड़ दूँगी ? आपने मुझे कैसी समझ लिया है ? एक दिन जो कर चुकी हूँ, उसी लिए आपने क्या मुझे अत्यन्त हीन समझ रक्खा है ?"

उसकी बातचीत और बोलने के ढंग दोनों ने तपन को हतबुद्धि कर दिया।

"यह सब आप क्या कह रही हैं ? आपके सम्बन्ध में किसी दिन मैंने कोई भावना नहीं बनाई। किंतु ये सब बातें आज दिन! मेरे साथ न जाने कैसा

असम्भव विचार क्यों आपके मन में आया! यह पागलपन!"

"आप जिसे पागलपन समझते हैं, उसे दूसरे वैसा नहीं भी समझ सकते हैं। किंतु और बात बढ़ाने की आवश्यकता नहीं है। मैं चलूँगी ही।"

"असम्भव।"

"असम्भव क्यों?"

"किंतु, यह तो तनिक भी विचार करने पर आप स्वयं समझ सकती हैं। क्षणिक उत्तेजना ही जीवन का चरम सत्य है? न, आकाश में इंद्रधनुष देखकर यदि कोई उसको चिरस्थायी समझ ले--"

कंपित स्वर में ऊषा बाधा देती हुई बोल उठी--"बस, बस! किंतु कितने प्रकार से तथा कितने आघात और आप मुझे देना चाहते हैं। बोलिए, क्या करना चाहते हैं?"

क्षणभर स्तम्भित रहकर तपन बोला—"आप क्या कर रही हैं, क्या कह रही हैं? इस बात पर ठंडे दिल से जिस समय विचार करेंगी, उस समय आपको स्वयं ही कुंठा की सीमा न रह जायगी। एक दिन आपने मेरे ऊपर कुछ अविचार किया था, यह मान भी लिया जाय तो भी उसके पश्चात्ताप में स्वयं इतना बड़ा त्याग स्वीकार करने में भी आप दुविधा नहीं कर रही हैं, किंतु मैं तो आपकी इस क्षणिक दुर्बलता का अनुचित लाभ न उठा सकूँगा।"

"यह क्या केवल मेरी दुर्बलता?"

"निश्चय ही। आपके इस मनोभाव का मैं बहुत कुछ अनुमान लगा चुका था, इसलिए और भी दूर चला जा रहा हूँ। दो दिन बाद ही मेरी बात आप भूल जायँगी, तब अपने ही आज की बात पर आपको हँसी आवेगी।"

दृप्त दृष्टि से फिर उसकी ओर देखकर सहसा रोते-रोते ऊषा ने दोनों हाथों के आवरण से अपना मुख ढक लिया। विस्मय से भरकर तपन बोला—"यह क्या आप रो रही हैं? क्यों, चोट पहुँचानेवाली कोई बात तो मैंने कही नहीं।"

मुख के ऊपर से हाथ हटाकर ऊषा बोली—"ना, आपसे और कुछ कहना मैं नहीं चाहती। आपको मैंने ग़लत समझा था। आप पत्थर के बने हैं। नहीं तो इस तरह कभी मुझे अपमानित नहीं कर सकते। जाइए, आप जाइए—"

"अपमान करता हूँ?"

विह्वल भाव से तपन ने ऊषा की ओर देखा। भरी हुई दोनों आँखों को पोछती हुई भर्राई हुई आवाज़ में ऊषा बोली—"कर ही तो रहे हैं? कैसी समझ रहे हैं आप मुझे? आपने मुझे अत्यन्त हीन समझ रक्खा है, तभी तो इस तरह छोड़ जाना चाहते हैं। अन्यथा—"

ऊषा ने अपनी सजल दृष्टि हमारी ओर फेर ली। व्यस्त भाव से तपन ने कहा—"यह सब क्या कह रही हैं, आप जानती नहीं हैं, आपको मैं—किंतु—"

बात समाप्त किये बिना ही वह रुक गया। ऊषा का मुख सहसा उज्ज्वल हो उठा। वह बोली—"चलिए, तब चला जाय।"

"क्यों, काका बाबू?"

"बाबा से मैं कह आई हूँ। बाबा ने कहा है, वे स्टेशन पर मिलेंगे, चलिए।"

तपन नीरव भाव से घर के बाहर निकला, ऊपर के बरामदे से सतीकान्त बोले—"तुम लोग आगे चलो, मैं स्नान करके स्टेशन आ रहा हूँ। अभी समय है।"

ऊषा और तपन मोटर में जा बैठे, सतीकान्त हँसकर बोले—"तुम्हारी यात्रा शुभ हो।"

तपन ऊषा की ओर देखकर सोचता रहा, इस नारी प्रकृति की तरह दुर्बोध्य और कुछ भी संसार में है क्या! *

---

* एक बँगला कहानी का अनुवाद।

भारतीय सराफ़े के अंग अथवा भारत की ऋणदात्री संस्थाएँ

(Constituents of the Indian Money Market)

प्रोफ़ेसर चन्द्रधर अवस्थी एम्० ए०, बी० काम०

(१)

भारतीय सराफ़े के दो अंग हैं—(१) देशी और (२) विदेशी।

जो लोग देशी पद्धति के अनुसार सराफ़े का काम (ऋण देने का कार्य) करते हैं, वे 'देशी सराफ़े' (Indigenous Money Market) के अंग हैं, जैसे महाजन, सराफ़ या अन्य ऋणदात्री संस्थाएँ। इसके प्रतिकूल विदेशी पद्धति के अनुसार कार्य करनेवाले 'विदेशी सराफ़े' (European Money Market) के अंग कहे जाते हैं। उनके नाम निम्नलिखित हैं—

(१) रिज़र्व बैंक ऑफ़् इण्डिया (Reserve Bank of India)।

(२) इम्पीरियल बैंक ऑफ़् इंडिया (Imperial Bank of India)।

(३) संयुक्त मूलधन के बैंक (Joint-Stock Banks)।

(४) 'एक्सचेंज' (विनिमय करनेवाले—विदेशी) बैंक (Exchange Banks)।

(५) 'गवर्नमेंट' (Government)।

(६) बीमा की कम्पनियाँ (Insurance Companies)।

इनके अतिरिक्त सहकारी मंडलियाँ या बैंक (Co-operative Societies and Banks), भूमि को रहन रखकर ऋण देनेवाले बैंक (Land Mortgage Banks), 'लोन ऑफ़िस' (Loan Offices) और 'निधी' और 'चिरफंड' मध्यवर्ती स्थान रखते हैं। अब हम इन सबका संक्षिप्त विवरण नीचे देते हैं—

(१) देशी सराफ़ा

(Indigenous Money Market)

(अ) महाजन (Moneylenders)

महाजन दो प्रकार के होते हैं—(१) व्यवसायी और (२) अव्यवसायी (Professional and Non-Professional)। व्यवसायी महाजन वे हैं, जो लेन-देन से ही अपनी जीविका चलाते हैं और अव्यवसायी वे व्यक्ति हैं, जिनका व्यवसाय तो लेन-देन करने का नहीं है ; किन्तु जो अपनी बचत का रुपया अपने मित्रों, पड़ोसियों अथवा अन्य प्रकार के मनुष्यों को क़र्ज़ में देते हैं, जैसे वकील, डाक्टर, बेवाएँ, पेन्शन-याफ़्ता लोग, व्यापारीगण, ज़मींदार या कुछ समृद्धिशाली कृषक।

व्यवसायी महाजनों के तीन और भेद हैं—(१) देहाती, (२) शहरी और (३) भ्रमणकारी (Itinerant)।

देहाती महाजन

देहात में लेन-देन का काम करनेवाले व्यक्ति देहाती महाजन कहाते हैं। ये कृषकों, शिल्पकारों और छोटे-छोटे व्यापारियों को क़र्ज़ देते हैं। वे द्रव्य अथवा नाज, दोनों ही वस्तुएँ कृषकों को ऋण में देते हैं—द्रव्य तो गाय-बैल, खेती करने के औज़ार, खाद और अन्य आवश्यक वस्तुएँ ख़रीदने के लिए, लगान अथवा मालगुज़ारी देने के लिए और ब्याह, जाति-भोज, श्राद्ध इत्यादि का ख़र्च चलाने के लिए दिया जाता है, और नाज खेतों में बोने और खाने के लिए दिया जाता है। कभी तो भूमि, गाय-बैल, गृह-सम्पत्ति अथवा आभूषणों को रहन रखकर ऋण दिया जाता है और कभी विना रहन के ही दिया जाता है। कभी-कभी खड़ी हुई अथवा आगामी फ़सल के रहन पर भी ऋण दिया जाता है, जिसकी साधारणतया एक शर्त यह भी होती है कि आगामी फ़सल की बिक्री महाजन के ही द्वारा होगी। महाजनों के काम करने अथवा हिसाब-किताब रखने के ढंग सीधे-सादे होते हुए भी भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं, जो साधारणतया उनकी प्रकृति, ऋण लेनेवाले की दशा, ज़मानत अथवा रहन रखने योग्य वस्तु और स्थान के ऊपर निर्भर होते हैं। कभी-कभी विना कुछ लिखाये-पढ़ाये, विना कोई साक्षी किये हुए, किन्तु केवल परस्पर विश्वास करके ही ऋण दे दिया जाता है। हाँ, यदि रक़म बड़ी हो अथवा ऋण को दुबारा फिर देना हो तो इन बातों की आवश्यकता पड़ती है। ऋण की अवधि भी एक-सी नहीं होती। बहुत आसानी से ऋण दुबारा फिर दे दिया जाता है अथवा उसकी अवधि ही बढ़ा दी जाती है। कभी-कभी तो वर्षों पीछे अदायगी होती है। ब्याज की दर बहुधा अधिक ही होती है। बहुधा देहाती महाजन लेन-देन के साथ-साथ कुछ और छोटा-मोटा व्यापार भी करता है।

शहरी महाजन

शहरी महाजन की कार्य-प्रणाली देहाती महाजन की कार्य-प्रणाली से मिलती-जुलती ही है। हाँ, यह भेद अवश्य है कि शहरी महाजन का काम देहाती महाजन की अपेक्षा अधिक मात्रा में होता है, और वह हुण्डियों पर भी उनके सकारे जाने के पूर्व ही बट्टा (discount) काटकर रुपये दे देता है। वह भी साधारणतया लेन-देन के साथ-साथ और भी काम करता है।

भ्रमणकारी महाजन

भ्रमणकारी महाजनों में सबसे प्रसिद्ध पठान महाजन होते हैं, जो प्रत्येक स्थान में पाये जाते हैं। पठान लोग अधिकतर अत्यन्त ही निर्धन व्यक्तियों को ऋण देते हैं, जैसे मज़दूर, चपरासी इत्यादि। ये लोग बहुत ही अधिक ब्याज लेते हैं और लाठी के ज़ोर से अपना रुपया वसूल करते हैं। इनके इन दुर्व्यवहारों के कारण ही सन् १९३१ ईस्वी की केन्द्रीय बैंकिंग 'इन्क्वायरी कमेटी' ने सरकार से सिफ़ारिश की थी कि जिस स्थान में साधारण क़ानून पठान महाजनों के अत्याचारों को न रोक सके, उन-उन स्थानों पर सरकार विदेशियों के क़ानून की तृतीय धारा के अनुसार उन पठानों को देश से निकाल दे, जिनके कारण शान्ति-भंग होती हो। भ्रमणकारी महाजनों में संयुक्त प्रान्त में 'क़िस्तवाले' और गाय-बैल बेचनेवाले और मध्यप्रान्त में 'रोहिले' अधिक विख्यात हैं। भ्रमणकारी महाजन भी लेन-देन के साथ-साथ और-और काम भी करते हैं। उदाहरणार्थ पठान महाजन कपड़ा बेचते हैं। इन महाजनों का नाम भ्रमणकारी महाजन इस कारण से पड़ा है कि ये लोग एक स्थान में रहकर व्यवसाय नहीं करते; किन्तु एक स्थान से दूसरे स्थान में भ्रमण किया करते हैं।

अव्यवसायी महाजन

ये महाजन या तो ऋण देते समय भूमि अथवा आभूषण रहन में रख लेते हैं अथवा विना रहननामे के ही ऋण देते हैं। इनमें 'कृषक महाजन' व्यवसायी महाजन से भी अधिक दुःखदायी होता है। वह साधारणतया या तो आगामी फ़सल की 'ज़मानत' पर बीज क़र्ज़ में देता है, अथवा भूमि के रहन पर द्रव्य

देता है और सदा इस ताक में लगा रहता है कि कब अवसर आवे, और मैं ऋण लेनेवाले की भूमि पर अपना अधिकार जमाऊँ। ज़मींदार लोग भी अपने असामी कृषकों को ऋण देते हैं, और वे भी बड़े दुःखदायी सिद्ध होते हैं; क्योंकि ये लोग अपने असामियों को दो तरह से पीड़ित करते हैं। यदि बेचारा किसान पूरा व्याज दे दे और लगान पूरा न चुका सके तो ज़मींदार उस पर 'रेवेन्यू कोर्ट' (माल-गुज़ारी-सम्बन्धी अदालत) में अभियोग चलाकर उसकी फ़सल ज़ब्त करके उसे बेदख़ल (अधिकार से वञ्चित) कर सकता है और यदि बेचारा लगान चुका दे और व्याज न चुका सके तो 'अदालत दीवानी' में उसके विरुद्ध नालिश की जा सकती है। इस प्रकार बेचारा असामी सदा अपने ज़मींदार महाजन से भय-भीत रहता है, और उसकी प्रत्येक प्रकार से उचित या अनुचित सेवा करके उसे प्रसन्न रखने का प्रयत्न करता रहता है।

बहुत-से व्यापारी भी कृषकों को इस शर्त पर ऋण देते हैं कि उन्हें अपनी फ़सल उन व्यापारियों के द्वारा ही बेचनी होगी। रुई ओटने के कारख़ानेवाले भी कृषकों को इस शर्त पर ऋण देते हैं कि वे या तो अपनी फ़स्ल उन्हीं कारख़ाने के 'मालिकों' के हाथ बेचें अथवा अपनी रुई उन्हीं के कारख़ानों में ओटावें।

(ब) सराफ़ (Indigenous Bankers)

डाक्टर एल० सी० जैन की परिभाषा के अनुसार सराफ़ वे व्यक्ति हैं, जो रुपया उधार देने के अतिरिक्त या तो हुण्डियों का व्यापार करते हैं अथवा जनता का रुपया धरोहर (Deposits) में रखते हैं। इसके प्रतिकूल सन् १६३१ ईस्वी की बैंकिंग की जाँच करने-वाली केन्द्रीय कमेटी की परिभाषा के अनुसार 'सराफ़ वह व्यक्ति है, जो दूसरों का रुपया अपने पास धरोहर में जमा करने के अतिरिक्त या तो रुपया उधार देता है अथवा हुण्डियों का व्यापार करता है।' दूसरी परिभाषा 'बैंकिंग' के सिद्धान्त की इस कहावत के अनुकूल है कि "बैंकर का मस्तिष्क और दूसरों का द्रव्य' (A Banker's brains and other people's money) जिसका आशय यह है कि कोई भी व्यक्ति 'बैंकर' (सराफ़) कहलाने योग्य नहीं है, जो दूसरों का द्रव्य अपने पास धरोहर के स्वरूप में रखकर अपने मस्तिष्क से यह न निश्चित करे कि इस द्रव्य का क्या करना चाहिए? 'महाजन' और 'सराफ़' में मुख्य भेद यह है कि साधारणतया महाजन अपने ही द्रव्य से अपना कारबार चलाता है और सराफ़ कभी-कभी स्वयं भी दूसरों से ऋण लेकर अपना व्यवसाय करता है। इस ऋण लेने के दो स्वरूप हैं—(१) दूसरों का द्रव्य जमा करना, और अपनी सकारी हुई हुण्डियाँ दूसरे सराफ़ों अथवा इंपीरियल बैंक, संयुक्त मूलधनवाले बैंकों अथवा विदेशी विनिमय का कार्य करनेवाले बैंकों के हाथ बेच देना।

देशी सराफ़ भारतीय बैंकिंग क्षेत्र में बड़ा ही उच्च स्थान रखता है। वह लगभग पूर्ण कृषि-सम्बन्धी या ६० प्रतिशत व्यापार-सम्बन्धी (देश के भीतर होनेवाले) साख अथवा ऋण-सम्बन्धी समस्त आव-श्यकताओं की पूर्ति करता है। कृषकों को ऋण या तो सीधे उन्हीं को दिया जाता है, जैसे बर्मा या बिहार में अथवा स्थानीय महाजन के द्वारा। वह निम्न-लिखित कार्य करता है—

(१) दूसरों का रुपया जमा करना—यद्यपि सभी सराफ़ ऐसा नहीं करते, 'बैंकों' की भाँति रुपया 'चेकों' के द्वारा भुगतान नहीं होता; किन्तु नक़द दिया जाता है।

(२) रहन अथवा विना रहन के ऋण देना।

(३) व्यापारियों की हुण्डियाँ बट्टे पर लेना।

(४) हुण्डियों के द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान को रुपया भेजना।

(५) खेतों से बन्दरगाहों तक माल पहुँचाने में द्रव्य-सम्बन्धी सहायता देना (जहाँ से माल विदेश को भेजा जाता है) और इसी प्रकार विदेश से आये हुए माल को बंदरगाहों से देश के भीतर अन्य स्थानों तक पहुँचाने में आवश्यकता पड़ने पर व्यापारियों को ऋण देना।

(६) मंडियों में अढ़तियों का कार्य करना।

(७) सोना या चाँदी अथवा इनके बने हुए आभूषणों को ख़रीदना या बेचना।

इन सराफ़ों की ख्याति का इसी बात से पता चल सकता है कि भारत के लगभग २,५०० नगरों में से केवल ४०० नगरों में ही कठिनता से कोई 'बैंक' अथवा उसकी शाखा पाई जाती है। अतः लगभग २,१०० नगरों में व्यापारियों या शिल्पकारियों की ऋण-सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति केवल ये ही देशी सराफ़ करते हैं और अन्य ४०० नगरों में भी जहाँ आजकल के बैंक विद्यमान हैं, वहाँ पर देशी सराफ़ भी काम करते हैं।

ये देशी सराफ़ पुराने ढंग पर कार्य करते हैं। 'आधुनिक सभ्यता' इनको छू तक नहीं गई। यह अपने कारबार को अत्यन्त गुप्त रखते हैं, और अपना 'नफ़ा-नुक़सान का खाता' (Profit and Loss Account) और 'पक्का चिट्ठा' (Balance-Sheet) किसी को भी नहीं दिखाते।

इस प्रकार, जैसा ऊपर कहा गया है, हमारे देशी सराफ़ भी लेन-देन के साथ-साथ कुछ और व्यापार भी करते हैं—अधिकतर सोने, चाँदी या अन्य आभूषणों का।

(शेष फिर आगामी अंक में विदेशी सराफ़े पर प्रकाश डाला जायगा।)

भारतेंदु-काल की राजनीतिक चेतना

श्रीकेसरीनारायण शुक्ल एम्० ए०, डी० लिट०

सन् १८५७ की क्रान्ति भारतीय इतिहास में बड़ी महत्त्वपूर्ण घटना है। इसका सबसे व्यापक प्रभाव यह हुआ कि देश के शासन की बागडोर ईस्ट इंडिया कम्पनी के हाथ से निकलकर ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के अधीन हो गई। महारानी विक्टोरिया के शासन से नई व्यवस्था का जन्म होता है, और देश में राजनीतिक जीवन का संचार होता है। विक्टोरिया की घोषणा का जनता ने स्वागत किया और वह राजनीतिक जीवन के प्रति उत्सुकता और उत्साह दिखाने लगी। देशवासियों को पूर्ण विश्वास था कि घोषणा के वचन पूरे किये जायँगे, और वह आशान्वित होकर राजनीतिक सुविधाओं के स्वप्न देखने लगी। यह उत्सुकता, उत्साह और आशा भारतेन्दु-काल की राजनीतिक चेतना का आरम्भिक रूप है।

जनता की इस राजनीतिक उत्सुकता को भारतेंदु-काल के कवियों ने बराबर सजीव बनाये रक्खा। प्रायः सभी प्रमुख कवियों की मासिक या पाक्षिक पत्रिकाएँ थीं, जिनमें वे सभी विषयों पर उपयोगी लेख लिखा करते थे। देश की जागृति में इन पत्रिकाओं का विशेष योग रहा है। इन लेखों की स्पष्ट आलोचना और स्वतंत्र प्रवृत्ति ने देशवासियों को तत्कालीन परिस्थिति से अवगत कराया। पत्रकार के नाते ये लोग राजनीतिक जीवन में प्रवृत्त हुए; परन्तु कविरूप में इनका कार्य और भी महत्त्वपूर्ण था। उपयुक्त अवसरों पर जनता के भावोन्मुख होने पर ये कवि कविता लिखा करते थे। ऐसे अवसरों की कमी भी नहीं थी। विक्टोरिया की जयन्ती से लेकर वायसराय, ड्यूक और गवर्नरों के स्वागत और अफ़ग़ान तथा बोनपुर-युद्ध तक कविता के अनेक उपयुक्त विषय और अवसर थे। सामाजिक और धार्मिक उत्सव भी राजनीतिक प्रचार के साधन थे। इन अवसरों की कविताएँ जनता के भावों से संबन्धित और उनको प्रभावित करनेवाली होती थीं। कवि तत्कालीन राजनीतिक जीवन के चित्रों के साथ-साथ इनके विरोध में प्राचीन समय की भव्यता और उन्नति को अंकित करते थे। इन रचनाओं में देश-भक्ति का स्वर भी झंकृत होता था। इस प्रकार जनता में राजनीतिक चेतना के प्रसार की चेष्टा की जा रही थी।

इस चेतना का प्रथम स्पष्टरूप शासक और उसके प्रतिनिधियों के प्रति राज-भक्ति का प्रदर्शन था। इस समय की अधिकांश राजनीतिक कविताएँ सुचारु शासन की कृतज्ञता और नवीन सुविधाओं की आशा से विक्टोरिया, वायसराय तथा गवर्नरों के प्रति राजभक्ति से ओत-प्रोत हैं। भारतेन्दु-रचित "भारत-भिक्षा", "भारतवीरत्व", "विजय-वल्लरी" और "विजयिनी-विजय-वैजयन्ती" में राज-भक्ति और कृतज्ञता के उद्गार हैं। 'प्रेमघन' का "आर्याभिनंदन", "भारत-बधाई",

"हार्दिक हर्षादर्श" और "स्वागत" तथा अम्बिकादत्त व्यास का "देवपुरुषदृश्य" इसी प्रकार की रचनाएँ हैं।

हरिश्चन्द्र राज-भक्ति की व्यञ्जना के लिए सर्वदा उत्सुक और तत्पर रहते हैं। इनको राजपद का स्पर्श परम फल है और इन्हें हिंदुओं का डिसलायल कहा जाना बड़ा बुरा लगता है। इसी भावना से प्रेरित होकर यह हिंदुओं को ब्रिटिश गवर्नमेण्ट के पक्ष में अफ़ग़ान-युद्ध में लड़ने को उत्साहित करते हैं। यह उन लोगों का उदाहरण भी देते हैं, जो इससे पूर्व दूसरों के लिए लड़ चुके हैं—

"परम मोक्ष फल राजपद परसन जीवन माँहि ;
बृटन देवता राजसुत पद परसहु चित चाहि।
डिसलायल हिंदुन कहत कहाँ मूढ़ ते लोग ;
दृग भर निरखहिं आज ते राज-भक्त संजोग।"
"मानसिंह बंगाल लरे प्रतापसिंह सँग ;
रामसिंह आसाम विजय किय जिय उछाह रँग।
तौ इनके हित क्यों न उठहिं सब बीर बहादुर,
पकरि पकरि तलवार लरहिं बनि युद्ध चक्रधर।"

'प्रेमघन' भी भारतीयों की राज-भक्ति का बड़े गर्व के साथ उल्लेख करते हैं—

"राज-भक्ति इनमें रही जैसी अकथ अनूप ;
वैसी ही तुम आज हू पैहो पूरब रूप।
सबै गुनन के पुंज नर भरे सकल जग माहिं ;
राज-भक्ति भारत-सरिस और ठौर कहुँ नाहिं।"

अम्बिकादत्त व्यास भी विक्टोरिया का जय-जयकार मना रहे हैं—

"जयति धर्म सब देश जय भारतभूमि-नरेश ;
जयति राजराजेश्वरी जय-जय-जय परमेश।"

राधा कृष्णदास विक्टोरिया के निधन पर इन शब्दों में दुःख मनाते हैं—

"मातृहीन सब प्रजावृन्द करि जगत रुलाई ;
मातु विजयिनी हाय-हाय सुरलोक सिधाई।
हाय दया की मूर्ति, हाय विक्टोरिया माता ;
हा, अनाथ भारत को दुख में आश्रयदाता।"

आज हमको ऐसी राजभक्तिपूर्ण उक्तियाँ कभी-कभी खटकती हैं ; परन्तु ये उद्गार सहेतु और स्वाभाविक हैं। विक्टोरिया के शासन से अशांत वातावरण का अंत और शांति तथा रक्षा का समय आरम्भ होता है। जनता सन् ५७ की अशांति से ऊब उठी थी, और उसने नियमित और व्यवस्थित शासन का स्वागत किया। ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासन से देशवासी असन्तुष्ट थे, इसे जनता की सुविधा की कोई चिन्ता नहीं थी, और इसके कर्मचारी केवल अपना हित देखते थे *।

इसी से देशवासियों ने विक्टोरिया की घोषणा का हृदय से स्वागत किया। इनको पूरा विश्वास था कि घोषणा में दिये हुए वचन पूरे किये जायँगे। फलतः शासनाधिकारियों को यह अपनी राज-भक्ति का विश्वास बारम्बार दिलाते थे। आज हमें इसका अनुभव हो रहा है कि इन लोगों की आशाएँ कितनी भ्रांतिपूर्ण थीं। इसका कटु अनुभव भारतेंदु-काल के कवियों के हिस्से में न पड़कर हम लोगों के भाग में पड़ा है। यद्यपि भारतेन्दु-काल के अन्तिम वर्षों में इन कवियों में भी असन्तोष के दर्शन होते हैं, तथापि अपनी आशाओं की विफलता के विशद दृश्य इन लोगों के लिए नहीं थे। इसलिए राजभक्ति-पूर्ण इन उद्गारों को हम कोरी चाटुकारिता नहीं कह सकते। इनमें देशवासियों की सच्ची भावना की अनुभूति की झलक भी है। ब्रिटिश शासन की नई सुविधाओं और आविष्कारों से कवियों तथा जनता,

---

* ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासन की कटु आलोचना 'प्रेमघन' ने की है। इनके विचारानुसार विक्टोरिया के हाथ में शासन आने से भारत की प्रजा सनाथ हो गई—

"ईस्ट इण्डिया कम्पनी कियो राजकाज इत;
कियो समित उत्पात होत जे रहे इहाँ नित।
पै वाकी स्वारथपरता अरु लोभ अधिकतर ;
राख्यो चित नित ही निज राज बढ़ावन ऊपर।
ह्याँ के मूढ़ प्रजा के चित को भाव न जान्यो ;
हठ करि सोई कियो जबै जस ता मन मान्यो।
लेकर राज कम्पनी के कर सों निज हाथन ;
किय सनाथ भोली भारत की प्रजा अनाथन।"

दोनों को मतिभ्रम हो गया था। इसी से भारतेन्दु-काल की जनता और कवि ब्रिटिश-राज का गुणगान करते हैं। रेल, सड़कें, नहरें, गैस, बिजली और शांति-सुव्यवस्था की सभी कवि प्रशंसा कर रहे हैं। 'प्रेमघन' शासन की गुणावली का उल्लेख निम्न-लिखित पंक्तियों में करते हैं—

"जहाँ काफिले लुटत रहे सौ जतन किये हूँ,
जिन दुर्गम थल माँहि गयो कोऊ नहिं कबहूँ;
रेल यान परभाय अँधेरी रातहु निधरक,
अंध पंगु असहाय जात बाला अबला तक।
तड़ित गैस परकास राजपथ रजनि सुहाये,
महा महानद माहिं सेतु सुन्दर बँधवाये;
बने विश्वविद्यालय विद्यालय पाठालय,
पावत प्रजा अलभ्य लाभ जिनते बिन संशय।"

अंबिकादत्त व्यास भी ब्रिटिश-शासन की इन सुविधाओं से मोहित हो गये हैं—

"नये-नये बहु लाट आइकै भारत आरत वारत;
लेफ़टिनेंट अरु गवर्नरादिक परजा काज सँवारत।
जंगल काटि-काटि के केते नगर बजार बनाये;
नहर निकारि नदी अरु नद पै भारी सेतु बँधाये।
गाँव-गाँव विद्यालय करिकै बहुत विवेक बढ़ायो;
यान चलाइ रेल को तापै मानो नगर उड़ायो।"

राधाकृष्णदास विक्टोरिया के राजत्वकाल में संसार को सबसे अधिक समृद्धिशाली मानते हैं। इनके विचार से ऐसी उन्नति न पहले कभी देखी गई और न सुनी गई—

"तुव शासन के समय जगत जो उन्नति पायो;
ज्ञान-विज्ञान कला-कौशल कल जो प्रगटायो।
जो कबहुँ सुनी नहिं कान सों रविरथ हू थिर ह्वै रह्यो;
या साठ बरस के बीच में सो सुख सम्पति जग लह्यो।"

भारतेन्दु-काल के कवि 'अँगरेज़ राज' को 'ईश-कृपा' का फल मानते थे। ये इस अवसर से पूरा लाभ उठाना चाहते थे। प्रजा को अनेक प्रकार की सुविधाओं के प्राप्त होने से शासितों की उन्नति की कामना करते थे। हरिश्चन्द्र और प्रेमघन देशवासियों से और देशी शासकों से उन्नति के लिए सचेत होने को प्रार्थी हैं। प्रार्थना के साथ-साथ हरिश्चन्द्र देशी रियासतों की अकर्मण्यता की आलोचना भी करते हैं; क्योंकि ये रियासतें ब्रिटिश-शासन में भी उन्नति के अवसरों की उपेक्षा करती हैं—

"वही उदैपुर, जैपुर, रीवाँ, पन्ना आदिक राज;
परबस भये न सोच सकहिं कछु करि निजबल बेकाज।
अँगरेजहु को राज पाइकै रहे कूढ़ के कूढ़;
स्वारथ पर विभिन्न ह्वै भूले हिन्दू सब ह्वै मूढ़।"

'प्रेमघन' देशवासियों को उन्नति के लिए जगा रहे हैं—

"उठो आर्यसंतान सकल मिलि बस न बिलंब लगाओ;
ब्रिटिशराज स्वातंत्र्यमय समय व्यर्थ न बैठि बिताओ।"

राजभक्त और ब्रिटिश-शासन के प्रशंसक होते हुए भी ये कवि देश की वास्तविक स्थिति से अपरिचित नहीं थे। देशवासियों की दुर्दशा इन कवियों को क्षुब्ध बनाये थी। इसी से देश की ग़रीबी के दयनीय चित्र इनकी रचनाओं में अंकित हैं। देश के धन के बाहर जाने से और कड़े करों से ये कवि असन्तुष्ट थे। इसी से इन कवियों ने ब्रिटिश-शासन की बुराइयों और प्रभावों की आलोचना की है।

इस आलोचना के मूल में राजनीतिक चेतना का प्रसार है और यह चेतना इँगलैंड के सम्पर्क का प्रसाद है। भारत और ब्रिटेन के इस सीधे सम्पर्क से कवि सूक्ष्मरूप से प्रभावित हो रहे थे। ये कवि इँगलैंड की उन्नत दशा की तुलना पराधीन भारत की अवस्था से करते थे, और फलतः भारत की दयनीय दशा से असन्तुष्ट थे। इस सम्पर्क ने अधिकार पाने की इच्छा को जन्म दिया।

'प्रेमघन' देश की जागृति को इसी सम्पर्क का फल मानते हैं। इनके मतानुसार ब्रिटिश-न्याय दिनकर के प्रकाश में 'सूझ्यो साँचो स्वत्व प्रजा को भूलि शीतमय' ये भारत और ब्रिटेन की प्रजा के अधिकारों की तुलना करते हैं और अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पार्लियामेंट में भारतवासियों के किसी प्रतिनिधि के बिना भारत के दुःख मिटने की कोई आशा नहीं है। राजसभा में भारतीय प्रतिनिधि के लिए ये आन्दोलन भी करते हैं—

"ब्रिटिश न्याय दिनकर दिनकर नास्यो रजनी दुख ;
विद्या को निखस्यो प्रकाश विकस्यो सरोज सुख ।
सूझ्यो साँचो स्वत्व प्रजा को भूलि शीतमय ;
× × ×
ब्रिटिशराज की प्रजा ब्रिटिन औ हिन्द उभय की ;
लखहु दशा पर युगल-भाग के अस्त-उदय की ।
वे निज देश हेतु विरचत हैं नीति नियम सब ;
बिन उनकी सम्मति कछु राजा करत भला कब ?
राजा नामै हेतु करति सब प्रजा प्रबन्धहिं ;
पर उन कहँ इतनेहु पै है सपनेहु संतोष नहिं ।
औ हम भारतवासीगन निज दसा कहन को ;
जाय सकत नहिं तहाँ भूलिकै एकौ छन को ।
× × ×
तासों कोउ भारतवासी के विना वहाँ पर ;
भारत के दुख मिटिबे की आसा नहिं दुस्तर ।
नहिं उपाय इहिके सिवाय कछु और अहै अब ;
राजसभा में पहुँचि दुःख निज गाय कहै सब ।"

दादा भाई नौरोजी पार्लियामेंट के सदस्य चुने जाते हैं। 'प्रेमघन' इस पर देशवासियों को और उनको हार्दिक बधाई देते हैं। परन्तु नौरोजी के 'काले' कहे जाने पर कवि की प्रफुल्लता विलीन हो जाती है। इनको पहली बार गुलामी का कटु अनुभव होता है और यह क्षोभ से कह उठते हैं—

"कारो निपट न कारो नाम लगत भारतियन ;
यदपि न कारे तऊ भागि कारो बिचारि मन ।
अचरज होत तुमहुँ सम गोरे बाजत कारे ;
तासों कारे कारे शब्दन पर हैं वारे ।"

इस क्षोभ में हमें उस असन्तोष के दर्शन होते हैं, जो समय के साथ बढ़ता ही गया। भारतेन्दु-काल के कवियों का असन्तोष नियुक्ति तथा कर ऐसी छोटी बातों पर था ; परन्तु इन छोटी माँगों की अवहेलना ने आगे चलकर वास्तविक और अधिक महत्त्वपूर्ण समस्याओं को जन्म दिया, जिनसे असन्तोष केवल प्रान्तीय न रहकर भारतवर्षीय बन गया। हम हरिश्चन्द्र को प्रेस-ऐक्ट और आर्म्स ऐक्ट से असन्तुष्ट पाते हैं—

"सबहिं भाँति नृप भक्त जे भारतवासी लोक ;
शस्त्र और मुद्रण विषय करी तिनहुँ की रोक ।"

'प्रेमघन' विक्टोरिया के दिये हुए वचनों को अधिकारियों को याद ही दिलाते रहे। इनकी निम्न-लिखित इच्छा शुद्ध अरण्यरोदन सिद्ध हुई—

"करहु आज सों राज आप केवल भारत हित ;
केवल भारत के हित साधन में दीने चित ।"

शासकों ने इन प्रार्थनाओं पर कभी कान न दिया और फलतः असन्तोष बहुत बढ़ गया। भारतेन्दु-काल की पत्रिकाएँ इसकी साक्षी हैं। काव्य के क्षेत्र में, बालमुकुन्द गुप्त की कविता में, असन्तोष का उग्र रूप मिलता है। बालमुकुन्द गुप्त भारतेन्दु काल के अन्तिम और द्विवेदीकाल के आरम्भिक कवियों में हैं। इन्होंने जनता की असंतुष्टि को ओजस्वी शब्दों में व्यक्त किया है। इनके समय तक भारतेन्दु-काल के कवियों की आशाएँ निष्फल सिद्ध हो चुकी थीं, और इसी से इनमें चाटूक्तियाँ और राजभक्ति नहीं मिलती। बालमुकुन्द गुप्त जातीय एकता और सक्रिय योजना के समर्थक हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राजभक्ति से असन्तोष— भारतेन्दु-काल की राजनीतिक चेतना का इतिहास है। इन कवियों की रचनाएँ आरम्भ में राजभक्ति से ओत-प्रोत हैं ; परन्तु क्रमशः मोह का पर्दा हटता जाता है। और समय तथा गुलामी की कठोरता सामने आती है, जिससे इनकी बाद की रचनाओं में असन्तोष की झलक मिलती है। इस समय का इतिहास भी इन कवियों की भावनाओं की सत्यता को प्रमाणित करता है। यह असन्तोष भारतेन्दु-काल में अपनी पूर्ण तीव्रता को नहीं पहुँच सका ; क्योंकि उस समय कोई ऐसी प्रभावशाली संस्था न थी, जो संगठन कर असंतुष्ट जनता का पथ-प्रदर्शन कर सकती।

द्विवेदी-काल में असन्तोष को संगठित कर उसे आन्दोलन का रूप देने की चेष्टा की गई, और आज यह देशभक्ति में परिवर्त्तित हो विदेशी शासन से मोरचा ले रहा है। कांग्रेस की स्थापना से जनता के सामने कुछ राजनीतिक ध्येय और आदर्श आये, जिनकी प्राप्ति के लिए देश को उत्साहित किया गया। कांग्रेस की स्थापना 'प्रेमघन' के अन्तिम वर्षों में हुई है। इसकी स्थापना से इनको देश के उज्ज्वल भविष्य की आशा

बँधी। देश के आशापूर्ण भविष्य के विश्वास की झलक इनकी निम्नलिखित पंक्तियों में मिलती है। कवि को कांग्रेस के जातीय गान 'वन्दे मातरम्' की ध्वनि सुनाई पड़ती है—

"हुआ प्रबुद्ध वृद्ध भारत निज आरत दशा निशा का—
समझ अंत अतिशय प्रमुदित हो तनिक तब उसने ताका।
उन्नति-पथ अति स्वच्छ दूर तक पड़ने लगा दिखाई;
खग वन्दे मातरम् मधुर ध्वनि पड़ने लगी सुनाई।"

बालमुकुन्द गुप्त के समय तक कांग्रेस प्रभावशालिनी संस्था हो गई थी। यह कांग्रेस के स्वदेशी आन्दोलन के समर्थक थे, और इनको बंगभंग-आन्दोलन से पूर्ण सहानुभूति थी। लार्ड कर्ज़न पर इनकी बहुत-सी व्यंगपूर्ण राजनीतिक रचनाएँ हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बाद की जागृति और आज की देशभक्ति भारतेन्दु-काल की राजनीतिक चेतना के परिणाम हैं। राजभक्ति से असन्तोष, फ़िर राजनीतिक स्वत्वों के लिए आन्दोलन, भारतीय राजनीतिक हलचल का इतिहास है। भारतेन्दु-काल के कवि इस मार्ग पर पहलेपहल बढ़े। इन लोगों ने देश के राजनीतिक जीवन के प्रति देशवासियों में अभिरुचि उत्पन्न की। इन कवियों की राजभक्ति के कारण आरम्भ में दिये जा चुके हैं। इसलिए आज देशभक्ति के आवेश में हम इनको कोरे ख़ुशामदी टट्टू नहीं कह सकते। देशभक्ति के संचार में इन कवियों ने विशेष योग दिया है; क्योंकि इनकी वाणी ब्रिटिश-शासन में बढ़ती हुई देश की ग़रीबी की आवाज़ है। भारतेन्दु-काल के कवियों की देशप्रेम से पूर्ण रचनाएँ लोगों के सन्देह-निवारण में स्वयं समर्थ हैं।

'यात्रा'

श्रीश्यामविहारी शुक्ल 'तरल'

एक वायु का झोंका आया, मूक नासिका बोल उठी,
जीवन आया, प्राण-वायु आई माया मुख खोल उठी;
शक्ति मिली कुछ और अचानक रुदन भर गया वाणी में;
मृत्यु हुई प्राचीन, कामना करती नवल किलोल उठी।
सुनो-सुनो! वह फूट पड़ी है व्यथा किसी के रोने में,
गूँज रही है किसी व्यथित की प्रतिध्वनि कोने-कोने में;
रोक न पाओ यदि अपने आँसू तो इतना ध्यान रहे,
कहीं अशान्ति पड़े न किसी की पीड़ाओं के सोने में।
जग न पड़े सोती-सी पीड़ा पैर सम्हाल-सम्हाल चलो!
ओ मदमत्त पथिक, डग-मग तजकर दृढ़ता की चाल चलो!
तुम अशक्य हो, पथ दुर्गम जिसमें जलते अंगार,
रोको मत अपनी लहरों की प्रगति, उछाल-उछाल चलो

सेठ गोविंददास के तीन नाटक—*

श्रीकालिदास कपूर एम्० ए०, एल्-टी०

गत वर्ष के जनवरी मास की 'सरस्वती' में सेठ गोविंददासजी के कुछ नाटकों की आलोचना प्रकाशित हुई थी। उस समय से अब तक सेठजी जेल में रहे और वहाँ भी रुग्ण अवस्था में। परन्तु आपके नाटक प्रकाशित होते रहे। कर्तव्य, प्रकाश, हर्ष, स्पर्धा, सिद्धांत-स्वातन्त्र्य और सेवा-पथ की संक्षिप्त आलोचना पिछले लेख में ही हो चुकी है। इधर मुझे आपके तीन और नाटक-ग्रंथ देखने में आये। इनमें 'कुलीनता' ऐतिहासिक नाटक है। 'नवरस' में अहिंसा की विजय का दृश्य नाटक के बहाने चित्रित किया गया है और 'सप्त-रश्मि' में सात एकांकी नाटक संकलित किये गये हैं।

हिंदी-साहित्य-संसार में 'भारतेंदु'जी के बाद ऊँचे दरजे के साहित्यिकों में तीन ही प्रमुख नाटककार रह गये थे—ऐतिहासिक क्षेत्र में 'प्रसाद' जी, सामाजिक-समस्याक्षेत्र में पं० लक्ष्मीनारायणजी मिश्र और राष्ट्रीय क्षेत्र में सेठ गोविंददासजी। प्रसादजी की अब अमरकीर्ति ही रह गई है और मिश्रजी की लेखनी में ज़ंग लग गया है। हिंदी साहित्य में नाट्य-ग्रंथों के निर्माण करने का नेतृत्व अब सेठजी ही को करना है। इसलिए सेठजी की लेखनी से निकले हुए नाट्य-ग्रंथों की समीक्षा करना हमारा साहित्यिक कर्तव्य हो जाता है।

सेठजी नाटककार ही नहीं हैं, आपने नाट्यकला का वैज्ञानिक अनुसंधान भी किया है। इसलिए पहले दो-एक नाटकों को छोड़कर आपके नाटकों में कोई कलाजन्य दोष नहीं आने पाया है। यद्यपि यह मानना पड़ेगा कि इन नाटकों को रंगमंच की कसौटी न मिलने के कारण यह कहना कठिन है कि इनका अभिनय साधारण जनता के सामने कहाँ तक सफलता पा सकेगा।

राष्ट्रीय दृष्टिकोण होने के कारण सेठजी को ऐसे कथानक ख़ूब मिल जाते हैं, जिनका सामयिक महत्त्व हो। 'सप्त-रश्मि' के प्रत्येक एकांकी नाटक की कोर में कोई न कोई सामयिक महत्त्व की राजनीतिक अथवा सामाजिक समस्या तो है ही, 'कुलीनता' और 'वीररस' पर भी सामयिकता की छाप है।

'कुलीनता' का कथानक ही ऐतिहासिक नहीं है,

---

* १. कुलीनता (हिंदी-ग्रंथ-रत्नाकर कार्यालय, बम्बई)
२. नवरस (सरस्वती-प्रकाशन-मंदिर, इलाहाबाद)
३. सप्त-रश्मि (किताबिस्तान, इलाहाबाद)

इसकी रचना भी अपना इतिहास रखती है । सन् १९३२ के जेल-निवास में लिखे जाने के बाद सन् १९३९ में 'धुआँधार' नाम से इसका परिवर्तित फ़िल्म-प्रदर्शन हुआ । फिर बहुत कुछ संशोधन और परिवर्तन के पश्चात् इस ग्रंथ का गत वर्ष के जनवरी मास में प्रकाशन हुआ । यों यह नाटक मध्यप्रांत की एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना का चित्रण करने के साथ-साथ लेखक के कला-विकास पर भी प्रकाश डालता है ।

ऐतिहासिक घटना यह है कि तेरहवीं शताब्दी के प्रारंभ में जब उत्तरी भारत पर दिल्ली के सुल्तानों का प्रभुत्व बढ़ने लगा, उसी समय के लगभग मध्य-प्रांत के कलचुरिवंशीय त्रिपुरी राज्य पर विजयसिंहदेव के मंत्री सुरभी पाठक की सहायता से गोंडवंशीय यदुराय ने अधिकार जमाया । कहा जाता है कि अनार्य यदुराय ने क्षत्रिय-वंश की एक आर्यकन्या से विवाह किया और इन्हीं की संतति से मध्यप्रांत का यह प्रसिद्ध राजगोंडवंश चला, जिसमें संग्रामशाह और दुर्गावती-जैसे वीर-वीरांगनाएँ हुईं ।

कथानक की इस ऐतिहासिक नींव पर नाटककार ने 'कुलीनता' का भव्य प्रासाद खड़ा किया है ।

भारतीय समाज के सामने इस समय एक दूसरे से संबंधित दो प्रश्न हैं । क्या अहिंसा की नींव पर समाज की रक्षा हो सकती है ? क्या अहिंसा के सिद्धांत पर अपने समाज की रक्षा का विश्वास करते हुए हम समाज के भीतर हिंसात्मक भेद-भाव को बनाये रख सकते हैं ? जब अपने ही समाज के भीतर एक वर्ग का पाशविक अत्याचार दूसरे वर्ग पर हो रहा है तो हम कैसे आशा करें कि दूसरा समाज हम पर अत्याचार न करेगा ? नहीं, हिंसात्मक भेद-भाव को बनाये रखकर हम स्वयं इतने निर्बल हो जाते हैं कि अपने समाज और राष्ट्र की किसी प्रकार रक्षा नहीं कर सकते । इसलिए पहली समस्या है सात्त्विक साम्यवाद, जिसका हिंदू-समाज में रूप है अछूतोद्धार । उसके पश्चात् है—साथ नहीं—अहिंसात्मक अंत-र्सामाजिक व्यवहार ।

पहली समस्या का नाटकीय दिग्दर्शन है 'कुलीनता' में, दूसरी का है 'नवरस' में ।

'कुलीनता' के ही रंगमंच पर दोनों समस्याओं के पारस्परिक सम्बन्ध की झलक मिलती है । कुलीनता के पोषक विजयसिंहदेव को समाज के भीतर भेद-भाव की रक्षा करने के लिए विदेशी समाज के नेता कुतुबुद्दीन का आधिपत्य स्वीकार है । वह स्वतंत्रता का यज्ञ करने के पहले सामाजिक शुद्धि की कठिन क्रिया करने के लिए तैयार नहीं है । उसके विरुद्ध उसका मंत्री सुरभी पाठक ब्राह्मण होते हुए भी प्रगतिशील है । वह राष्ट्रीय स्वतंत्रता की वेदी पर वर्ण-भेद का बलिदान करने के लिए तैयार है । विजयसिंहदेव यह कहकर कि 'आपके वंश की अपेक्षा, मातृभूमि का मुझ पर अधिक ऋण है ।' वह देशभक्ति की वेदी पर राजभक्ति को भी तिलांजलि दे सकता है और निर्वासित होकर अनार्य परन्तु स्वदेशभक्त गोंडवंशीय यदुराय से मिलकर पतित स्वामी और विदेशी आक्रमक कुतुबुद्दीन के विरुद्ध सम्मिलित विद्रोह का संगठन करता है ।

पतित समाज वर्णभेद द्वारा अपने निर्बल स्वार्थ की रक्षा करने का प्रयत्न करता है । प्रणय के साम्राज्य में वर्णभेद नहीं है । इसी लिए विजयसिंहदेव की पुत्री आर्यवंशीय रेवा सुन्दरी, अनार्यवंशीय वीर यदुराय को अपना हृदय अर्पण कर देती है । परन्तु यदुराय उस अविश्वास का प्रदर्शन करता है, जो उसकी जाति पर परंपरा से किये गये अत्याचार का प्रतिफल है ।

यदुराय—(निकट जाकर) क्या कलचुरि-राजकुल में भी ऐसी देवी हो सकती है, जो अकुलीन को अकुलीन न माने ? उससे घृणा न करे ?

रेवा सुन्दरी—(गद्गद स्वर से) मैं अपने हृदय को चीरकर आपके सम्मुख किस प्रकार रक्खूँ ? क्या विंध्यबाला ने मेरी दशा के संबंध में आपसे कुछ नहीं कहा ?

यदुराय—अवश्य कहा था, परन्तु मुझे विश्वास

नहीं होता कि इस राजवंश में कोई ऐसा भी उत्पन्न हो सकता है। विष-वृक्ष से तो विष-फल की ही उत्पत्ति होती है।

वही अविश्वास यदुराय का सुरभी. पाठक के प्रति है। परंतु स्वदेश-रक्षा के सम्मिलित उद्योग में दोनों परंपरा के भेद-भाव भूल जाते हैं और हार्दिक सम्मिलन द्वारा ही स्वदेश-रक्षा में सफलता मिलती है। 'कुलीनता' ऐतिहासिक नाटक के बहाने हमारे देश के आंतरिक भेद-भाव का प्रश्न हल करता है।

स्वदेश-रक्षा पाशविक बल की विजय द्वारा हो सकती है। अथवा अहिंसापूर्ण संगठित आत्मिक बल-प्रदर्शन द्वारा। यह आधुनिक काल की दूसरी पहेली है। क्या मनुष्य का विकास अहिंसा की ओर हो रहा है? या यह सही है कि हमारे भाव अब भी उतने ही हिंसात्मक हैं, जितने पहले थे? यदि मानव-जीवन पर अब भी हिंसात्मक भावों का राज्य है तो हिंसा से हिंसात्मक भाव का हनन करने से हिंसा का अंत नहीं होता, संघर्ष और अशांति बनी रहती है। फिर जो हिंसा की वेदी में इस समय महायज्ञ हो रहा है, उसके पश्चात्, पुनर्निर्माण के लिए ही सही, अहिंसात्मक भावों को जाग्रत् होने का अवसर न मिलेगा? यही भाव 'नवरस' नाटक द्वारा हमारे हृदय में जाग्रत् होते हैं।

कहने को तो 'नवरस' में रसों को ही जीवन प्रदान किया गया है, परन्तु 'नवरस'-व्याख्या नाटक का उद्देश्य नहीं है। उसका उद्देश्य वही है, जो मानव-जीवन की इस समय दूसरी महत्त्वपूर्ण समस्या है।

हिंसा के मूल में लालसा है। यही लालसा जब राष्ट्रीय रूप धारण करती है तब एक देश का आक्रमण दूसरे देश पर होता है। हिंसात्मक युद्ध द्वारा देश की रक्षा की जाती है। यदि आक्रमक सफल होता है तो वह पराजित जाति को पराधीन करके स्वयं पतित होता है और समय पाकर किसी प्रबल जाति के आक्रमण द्वारा उसका पतन होता है। यदि आक्रांत देश अपनी रक्षा करने में सफल होता है, तो विजय के गर्व में आक्रमक जाति को पराधीन बनाने का प्रयत्न करता है। यही मानव-संघर्ष की गाथा है, जिसकी कड़ी टूटती ही नहीं। यह कड़ी किसी प्रकार अहिंसात्मक प्रतिरोध से टूट भी सकती है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण इतिहास में नहीं मिलता तो उसका कल्पित चित्र 'नवरस' के रंगमंच पर तो मिल ही जाता है।

वीरसिंह स्वार्थ के प्रभाव में बालक राजा मधु के देश पर आक्रमण करता है। परन्तु वीरसिंह की बहन शान्ता वीरसिंह के इस अन्यायपूर्ण युद्ध का विरोध करती है और अपने देश में एक सत्याग्रही सेना बनाकर मधु के देश की रक्षा करने के लिए आ डटती है। फल यह होता है कि आक्रमक सेना पर इस आत्म-बलिदान का इतना प्रभाव पड़ता है कि वह भी अहिंसात्मक प्रभाव में आ जाती है और मधु का देश आक्रमण से बच जाता है। वीरसिंह के मधु की बहन प्रेमलता से विवाह द्वारा प्रेम का वीरता से सम्मिलन होने पर नाटक का यवनिकापतन होता है।

इस नाटक का उद्देश्य इतना दिव्य होते हुए चरित्र-चित्रण उस दरजे तक नहीं पहुँच सका है। सबसे अधिक सुन्दर चित्रण लीला का हुआ है। उसके मुख से नाटककार ने कहीं-कहीं तो ऐसे भावपूर्ण व्यंग्य कसे हैं कि वे नाटक के बाहर बोलचाल में प्रचलित हो जायँ तो कोई आश्चर्य नहीं। देखिए—

मनुष्य लड़ते नहीं, सिर्फ़ मरते हैं। और मशीनें—मशीनें मरती नहीं, लड़ती हैं।

हमारी भाषा तो लड़ने के समय बोलने के योग्य है नहीं, वह तो किसी न किसी तरह का भौंकना, गुर्राना या किटकिटाना होना चाहिए।

अगर कल्पना से ही सुख मिलता हो तो अच्छी कल्पना करना बुरी बात नहीं है।

एक बार लीला की मा राजमाता करुणा भी बहुत भावपूर्ण बात कर जाती है।

न्याय शक्ति का अनुयायी है। प्रेम में कामना, वात्सल्य में भविष्य की आशा और दया में स्वार्थ रह गया है।

नाटक में सबसे अधिक खटकनेवाली बात है आधु-

निक काल की युद्ध-प्रणाली का प्राचीन भूमिका में चित्रण। इस कालदोष के कारण कला की कसौटी पर यह नाटक बहुत खरा नहीं बैठता। परन्तु इस दशा में भी वह पथ-प्रदर्शन का काम तो करता ही है।

'सप्त-रश्मि' में सात एकांकी नाटक एकत्रित करके नाटककार ने आधुनिक रंगमंच और चित्रपट की भूमिका बाँधी है।

वर्तमान काल एरोप्लेन और बिजली का है। मनुष्य ने काल से लड़ने के लिए कमर कसी है। वह मनोरंजन को भी अधिक समय नहीं दे सकता। इसलिए रंगमंच अथवा चित्रपट पर कालिदास अथवा शेक्सपियर के ज़माने का त्र्यंकी अथवा पंचांकी नाटक नहीं ठहर सकता। अब तो एकांकी नाटक की ही धूम है। जो एक ही घटना और एक ही काल को लेकर लिखे [illegible]ते हैं और जिनका अभिनय डेढ़-दो घंटे से अधिक [illegible] चलता।

नाटककार ने संकलन की भूमिका में एकांकी नाटक की जो व्याख्या की है, उससे प्रकट है कि आप कला के वैज्ञानिक रूप को भी समझते हैं। इसलिए इन एकांकी नाटकों में कथानक का वह संघर्ष और चरित्र-चित्रण की वह सजीवता दिग्दर्शित है, जो नाटक को अभिनय के योग्य बनाती है।

'सप्त-रश्मि' में सात एकांकी नाटक ही नहीं हैं, उनके अलग-अलग रंग भी हैं। 'धोखेबाज़' में आधुनिक काल की सट्टेबाज़ी का चित्रण है। 'कंगाल नहीं' में एक ऐतिहासिक घटना का करुणापूर्ण चित्र है। 'वह मरा क्यों' में हास्य और व्यंग्य का सुन्दर सम्मिश्रण है। 'अधिकार-लिप्सा' में चिकित्सकों द्वारा ही राजा अयोध्यासिंह की मौत का दृश्य दिखाकर जनता को चिकित्सकों के प्रति संदेहात्मक भाव का सुन्दर चित्रण किया गया है। 'ईद और होली' में बाल-क्रीड़ा की भूमिका पर हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य की झलक दिखाई गई है। 'मानव-मन' में मन की आनन्द के प्रति उस स्वाभाविक खोज का चित्रण है जो सामाजिक बंधनों को तोड़ डालती है। सातवीं और अंतिम रश्मि में मैत्री की स्वार्थ पर विजय का दृश्य है।

यों गोविंददासजी की नाट्यकला का विकास आदर्श से वास्तविकता की ओर हो रहा है। कला-प्रेमियों का एक दल है, जो कला को कला की ही कसौटी पर कसने के पक्ष में है। सम्भव है कि उस दल के कुछ आलोचकों को गोविन्ददासजी की कृतियों में कलाजन्य दोष दिखाई दें। परन्तु निवेदन है कि कला का अन्तिम और आवश्यक उद्देश्य समाज की नैतिक उन्नति करना ही है। यदि कोई कलाजन्य वस्तु इस कसौटी पर खरी नहीं उतरती तो बाह्य दृष्टि से सुन्दर होते हुए भी वह हेय है। गोविंददासजी की नाट्यकला में पाठक और दर्शक के हृदय में उस नैतिक स्फूर्ति के उत्पन्न करने की शक्ति है, जिसकी हमारे पतित सामाजिक जीवन को नितान्त आवश्यकता है। इस दृष्टि से गोविंददासजी के नाटक-ग्रंथ हिंदी-साहित्य-संसार का निधि है।

पिछले लेख के अंत में लेखक ने राष्ट्रीय रंग[illegible]च की आवश्यकता पर कुछ निवेदन किया था। हर्ष है कि राजनीतिक संघर्ष से अवकाश पाकर अब सेठजी राष्ट्रीय रंगमंच की योजना पर विचार कर रहे हैं। इस विषय पर शीघ्र ही अपने विचार प्रकट करने की चेष्टा की जायगी।

स्वप्न-विरह

साहित्याचार्य प्रो० सत्यव्रत शर्मा "सुजन" एम्० ए०, बी० एल्०

प्राण ! तुम्हें सपने में खोया !
हैं कपोल प्लावन-पंकिल से, फफक-फफक जो निशिभर रोया !!
प्राण ! तुम्हें सपने में खोया !!

रहे पास ही तो हम दोनों, पर जैसे टुक छू न सका मैं,
सर्व निवेदित कर भी मानों तव चरणों में चू न सका मैं,
चिर लाञ्छित से प्राण रह गये, विजड़ित-सा यह हृदय सँजोया !
प्राण ! तुम्हें सपने में खोया !!

तुमने तो प्रिय ! बाहु पसारे, पर अपने को दे न सका मैं,
युग-युग से अभिलषित दान विख्यात भिखारी ले न सका मैं,
अधर काँप रह गये, लौट आया तव चुम्बन प्यार-समोया !
प्राण ! तुम्हें सपने में खोया !!

लिये अजब बेकली एक आये ओ जनम-जनम के निर्मम !
बाँध तोड़ ज्यों उमड़ पड़ी हो कल्प-कल्प की चाह एकदम !
भीग रहा था रस से जैसे आग्रहमय नैनों का कोया !
प्राण ! तुम्हें सपने में खोया !!

नाच रही है सम्मुख मेरे निष्फल आलिंगन की छाया,
मैं सकुचाया, क्यों न खींचकर प्यारे ! निज में मुझे मिलाया ?
समझ लिया क्या उन्मन ? नहीं, नहीं, मैं तो चरणों का धोया !
प्राण ! तुम्हें सपने में खोया !!

मिलन स्वप्न है और विरह ही क्या जीवन का सत्य देवता !
कौन स्वप्न है, कौन सत्य है जग में, कोई तनिक दे बता !
मैं हूँ कौन, कौन हो तुम, बोलो प्रिय ! यह मैं हूँ, तुम हो या ?
प्राण ! तुम्हें सपने में खोया !!

खोया तुम्हें ? गलत, मैं तो कब से तुममें खोया हूँ बालम !
लाख-लाख युग बीत गये, मैं तो तुममें सोया हूँ बालम !
मिलन सत्य है, विरह एक दुर्भर छनभर का सपना गोया !
प्राण ! तुम्हें सपने में खोया !!

मुरली क्या थम गई तुम्हारी ? मैं तो अब तक विसुध, न बाधा—
भूल गये तुम कुँवर कन्हैया ! मैं तो वही तुम्हारी राधा !
अलग हुए हम कब ? बोलो, यह देह ? इसे तो पथ में ढोया !
प्राण ! तुम्हें सपने में खोया !!

वेला बन मैं मिला क्षितिज से, सागर सेवन कर मैं गंगा,
लहरी बन मैं चूम रहा बेतस को, लो, मैं बिलकुल नंगा,
बन पराग मैं मिला फूल में, तृण पर आँसू-हार पिरोया !
प्राण ! तुम्हें सपने में खोया !!

शाश्वत मिलन हमारा प्रियतम ! अगुरुगन्ध मैं, तुम मलयानिल !
शहनाई बज रही चिरन्तन और रहे हम दोनों घुलमिल !
अक्षय मधुर सुहागरात दे, छन छन जिसका सुरस-डुबोया ।
प्राण ! तुम्हें सपने में खोया !!

अनुरोध

श्रीउपेंद्रशंकरप्रसाद

कर दो इवाकुयेट (Evacuate) शेष कमला सहित
क्षीरनिधि, टारपीडो (Torpedo) कहीं न लगा दे नाथ ।
देख लिया अगम हिमाचल भी शंकर का
बम बम शब्द पर बम (Bomb) न गिरा दे नाथ ।
देखा लुत्फ़ रैशन (Ration) का खोह कंदरा को चल
स्वर्ग का खयाल अब दिल से भगा दे नाथ ।
युद्ध कालयौन[1] से सफल विद्ड्राल (Withdrawal) कर
सोता सिंह मुचकुन्द भारत जगा दे नाथ ।

---

१. कालयवन ।

विश्वेश्वरस्मृतिः *

श्रीविश्वेश्वरनाथ रेउ

पञ्चमोऽधिकारः

भोजनप्रकरणम्

मिताहारविहारैस्तु दीर्घायुर्लभते नरः ।
विपर्ययेण चास्वास्थ्यमनायुष्यमवाप्यते ॥ १ ॥

मनुष्य परिमित (आवश्यकतानुसार) भोजन और मनोरंजन से दीर्घ आयु प्राप्त करता है। इससे उलटा होने से बीमारी और आयु की हानि होती है।

भक्ष्यपेयादिदोषाच्चालस्यादतिपरिश्रमात् ।
अत्याचाराच्च लोकानामायुर्नश्यति सत्वरम् ॥ २ ॥

लोगों की आयु खाने-पीने की वस्तुओं के दोष से, आलस्य से, अधिक परिश्रम से और नियमों का उल्लंघन करने से शीघ्र ही नष्ट हो जाती है।

गरिष्ठमसुपक्वं च तिक्तं पर्युषितं तथा ।
दुर्जरं चाम्लमशुचि कषायं चापरिष्कृतम् ॥ ३ ॥
उत्तेजनकरं यच्च यच्च दोषप्रवर्धकम् ।
स्वप्रकृत्या विरुद्धं यद् भक्ष्यं पेयं च तत् त्यजेत् ॥४॥
(युग्मम्)

भारी, ठीक तौर से न पकी हुई, कड़वी, बासी, कठिनता से पचनेवाली, खट्टी, अपवित्र, कसैली और पूरी तौर से साफ़ न की हुई, अथवा जो उत्तेजना बढ़ानेवाली, जो दोषों (वात, पित्त, कफादि) को बढ़ानेवाली और जो अपनी प्रकृति की विरोधी हो ऐसी खाने-पीने की वस्तुओं को छोड़ दे।

यातयाममपि द्रव्यं न स्याद् गतरसं यदि ।
अनष्टसत्त्वं यच्चापि तदद्यादविकल्पतः ॥ ५ ॥

देर का बना रक्खा पदार्थ भी अगर स्वाद में ख़राब न हुआ हो और जो सारहीन न हो गया हो, उसे विना शंका के खा ले।

अन्नैः शाकैश्च दुग्धैश्च दधितक्रघृतादिभिः ।
सुखं चेज्जीवितव्यं स्यान्न मांसं भक्षयेन्नरः ॥ ६ ॥

यदि अनेक तरह के अन्नों, शाकों (सब्ज़ियों), दूध, दही, छाछ (मट्ठा) और घी आदि से जीवन सुखपूर्वक निर्वाह हो जाय तो मनुष्य मांस न खाय।

जीवनं चेदशक्यं स्याद् विना मांसेन यत्र तु ।
पशुपक्षिझषा भक्ष्या जात्या धर्मेण चेरिताः ॥ ७ ॥

जहाँ पर विना मांस के जीवन असम्भव हो जाय, वहाँ पर अपनी जाति और अपने धर्म में बतलाये पशु, पक्षी और मछलियों को खा ले।

पदार्थानशुचीन् ये तु मृतदेहादिकानि च ।
प्राणिनो भक्षयन्त्यत्र तेषां मांसं न भक्षयेत् ॥ ८ ॥

जगत् में जो प्राणि (विष्ठा आदि) अपवित्र पदार्थों और मरे हुए जीवों को खाते हैं, उनका मांस न खाय।

---

* इस स्मृति की कलावती नामक भाषाटीका ग्रन्थकार की धर्मपत्नी ने लिखी है।

दूषणानि पुरोक्तानि भोजने यानि तानि तु ।
मांसेऽपि परिवर्ज्यानि धीमता स्वास्थ्यमिच्छता ॥ ६ ॥

भोजन में जिन ख़राबियों का होना पहले कहा है, तन्दुरुस्ती चाहनेवाले पुरुष को, मांस के विषय में भी उन्हें त्याग देना चाहिए ।

अवध्याः प्राणिनः

क्षीरप्रदास्तु पशवो ये कृष्या उपयोगिनः ।
वाहने रक्षणे युक्ता अवध्यास्ते प्रकीर्तिताः ॥ १० ॥

जो दूध देनेवाले, खेती के काम में आनेवाले और सवारी और रक्षा के काम में आनेवाले पशु हैं, वे अवध्य कहे गये हैं ।

गोजातिस्तु प्रयत्नेन भारतीयैः सुपूजिता ।
तदभावे समाजस्य स्थितिः स्याद‍तिदुःखदा ॥ ११ ॥

भारतवासियों ने गोजाति (गाय-बैल) को बड़े [illegible] के साथ पूजा है (ऊँचा स्थान दिया है)। उनके [illegible] भारतीय समाज की स्थिति ही कष्टकर हो [illegible]ती है ।

अन्येषु चापि कार्येषु ये भवन्त्युपयोगिनः ।
तेऽपि रक्ष्याः प्रयत्नेन जगत्यैश्वर्यमिच्छुना ॥ १२ ॥

अन्य कामों में भी जो पशु उपयोगी हों संसार में समृद्धि की इच्छावाले पुरुष को, कोशिश करके उनकी भी रक्षा करनी चाहिए ।

चराचरेषु जीवेषु योऽनुरागेण वर्तते ।
न द्वेष्टि न हिनस्त्यन्यान्नरः स हि नरोत्तमः ॥ १३ ॥

जो सब चर (जलचर, स्थलचर और नभचर) और अचर (वृक्षादि) जीवों में प्रेम-पूर्ण बर्ताव करता है और दूसरों से न द्वेष करता है और न उन्हें मारता है वह पुरुष अवश्य ही पुरुष-श्रेष्ठ होता है ।

सपिण्डादीनां जननमरणाशौचविचारः

आसप्तमात्पूर्वजात्तु साफिण्ड्यं शास्त्रसम्मतम् ।
आजन्मनामस्मरणात् समानोदकता मता ॥ १४ ॥

शास्त्रानुसार सातवीं पीढ़ी तक सपिण्डता मानी जाती है, (और उसके बाद) जहाँ तक (वंश में) जन्म और नाम का स्मरण रक्खा जाय, वहाँ तक समानोदकता मानी गई है । (कुछ स्मृतिकारों के मतानुसार चौदहवीं पीढ़ी तक समानोदकता रहती है ।)

पञ्चमादथवा तुर्याज्जनन्याः पञ्चमात् पितुः ।
पूर्वजादपि साफिण्ड्यं नष्टं क्वापि मतं बुधैः ॥ १५ ॥

मा से पाँचवें या चौथे पूर्वज से और पिता से पाँचवें पूर्वज से भी सपिण्डता नष्ट हो जाती है, ऐसा भी विद्वानों ने कहीं-कहीं माना है ।

प्रसूतौ सूतकं प्रोक्तं मातापित्रोर्हि केवलम् ।
तत्र माता दशाहेन पिता स्नानेन शुध्यति ॥ १६ ॥

(मनु ने) सन्तान के जन्म पर केवल माता और पिता को ही सूतक लगना कहा है, (और यह भी कहा है कि) उस मौक़े पर मा दश दिन से और पिता स्नान कर लेने से ही शुद्ध हो जाता है ।

दशाहं सूतकाशौचं केचिदाहुर्विपश्चितः ।
मातापित्रोः सपिण्डानां शुद्धिर्नाम विधेः परा ॥१७॥

कुछ विद्वान् सन्तान के जन्म पर मा, बाप और सात पीढ़ी के भीतरवाले बान्धवों के लिए दश दिन का सूतक बतलाते हैं । पूर्ण शुद्धि सन्तान के नामकरण संस्कार से होती है ।

दशाहोरात्रिकं जन्म सूतकं मन्यतेऽधुना ।
सद्यः शुद्धिश्च या प्रोक्ता पितुः सा नाद्य सम्मता ॥१८॥

आजकल सन्तान के उत्पन्न होने पर दश दिन-रात का सूतक माना जाता है । (स्नान कर लेने से) जो पिता की तत्काल शुद्धि होना कहा है, वह आजकल नहीं मानी जाती ।

दिवसत्रितयेनात्र शुद्धिं याति रजस्वला ।
त्रिमासावधि संजाते गर्भस्रावेऽप्ययं विधिः ॥ १९ ॥

रजस्वला (मासिक धर्म को प्राप्त हुई) स्त्री तीन दिन से शुद्ध होती है । तीन महीने तक के गर्भ के गिर जाने में भी यही नियम है ।

षण्मासान्तं तु जाते स्त्री शुध्येद् माससमैर्दिनैः ।
अत ऊर्ध्वं दशदिनैः स्त्रियाः शुद्धिः प्रकीर्तिता ॥ २० ॥

(तीन मास के बाद) छः मास तक के गर्भ के गिरने तक जितने महीनों का गर्भ हो, उतने ही दिन बीतने पर स्त्री (माता) शुद्ध होती है । छः महीने से अधिक के गर्भ के गिरने पर स्त्री (माता) की शुद्धि दश दिनों से कही है ।

रजःस्रावे च याऽशुद्धिर्गर्भस्रावे च या पुनः ।
उभये ते सुविश्रामप्रदत्वात् स्वास्थ्यदे मते ॥ २१ ॥

रजस्वला होने के समय जो अपवित्रता (अशौच) और फिर गर्भ-पात के समय जो अपवित्रता होती है वे दोनों (स्त्री को) पूर्ण विश्राम देनेवाली होने के कारण तन्दुरुस्ती को देनेवाली मानी गई हैं।

पितुः सपिण्डकानां तु शुद्धिः स्नानेन तत्क्षणम् ।
अदन्तेऽपि मृते बाले शुद्धिः स्यात् स्नानमात्रतः ॥२२॥

और (उपर्युक्त अवस्थाओं में) पिता और उसके सपिण्डों की शुद्धि स्नान कर लेने से उसी समय हो जाती है। बिना दाँतवाले बालक के मरने पर भी स्नानमात्र से ही शुद्धि होती है।

[इससे सिद्ध होता है कि जननाशौच के दश दिनों के बीत जाने पर यदि दाँतवाले बालक की मृत्यु हो तो माता भी स्नानमात्र से ही शुद्ध हो जाती है।]

सदन्ते चाप्यचूडेऽथो अहोरात्रेण शुध्यति ।
सचूडेऽनुपनीते च त्रिरात्राशौचमुच्यते ॥ २३ ॥

दाँत निकल आने के बाद परन्तु मुण्डन के पहले बालक की मृत्यु हो तो एक दिन-रात बाद शुद्धि होती है। मुण्डन के बाद और यज्ञोपवीत के पूर्व मृत्यु हो तो तीन रात का अशौच कहा है।

अत ऊर्ध्वं सपिण्डानां शावा शौचं दशाह्निकम् ।
अदन्तं तु मृतं बालं निखनेद् भुवि यत्नतः ॥ २४ ॥

यज्ञोपवीत संस्कार के बाद मृत्यु होने पर सपिण्डों को दश दिन का मरणाशौच लगता है। बिना दाँत-वाले बालक के मरने पर उसे यत्न के साथ पृथ्वी में गाड़ दे।

सदन्तस्याग्निदाहः स्यात् कार्या चाप्युदकक्रिया ।
उपनीतस्य सापिण्ड्यं शास्त्रोक्तविधिना मतम् ॥२५॥

दाँतवाले बालक की मृत्यु हो तो उसका अग्निदाह होगा और उसके लिए तर्पण भी करना उचित है। (इससे सिद्ध होता है कि इसके पूर्व मृत्यु होने पर तर्पण की आवश्यकता नहीं है।) यज्ञोपवीत के बाद मृत्यु होने पर शास्त्र में कही रीति से सपिण्डी का करना माना है।

चतुर्थाब्दात् समारभ्य विवाहात् प्राग् मृतिर्यदि ।
कन्यायास्त्र्यहमाशौचं बान्धवानां प्रकीर्तितम् ॥ २६ ॥

यदि चौथे वर्ष के प्रारम्भ से विवाह के पहले तक कन्या की मृत्यु हो जाय तो भाई-बन्धुओं को तीन दिन का अशौच कहा है। (इससे सिद्ध होता है कि चौथा वर्ष लगने के पूर्व के कन्या के और मुण्डन के पूर्व के पुत्र के मरणाशौच के नियम एक-से हैं।)

वाग्दानान्तं मृतायास्तु भर्तुर्वंश्यास्त्रिभिर्दिनैः ।
शुध्यन्तीति मनूक्तं तद्व्यवहारेऽद्य नो मतम् ॥ २७ ॥

मँगनी होने के बाद कन्या की मृत्यु होने पर मनोनीत वर के वंशवाले तीन दिन से शुद्ध होते हैं, मनु ने जो यह बात कही है, वह आजकल व्यवहार में नहीं मानी जाती।

दशाहैर्ब्राह्मणः शुध्येद् द्वादशाहैस्तु बाहुजः ।
वैश्यः पञ्चदशाहैश्च मासेनैकेन पादजः ॥ २८ ॥

ब्राह्मण दश दिन से, क्षत्रिय बारह दिन से, वैश्य पंद्रह दिन से और शूद्र एक महीने से अशौच से शुद्ध होता है।

तारतम्यात्तु वर्णानां शौचाचारस्य वा पुनः ।
क्रमतो दिनवृद्धिस्तु शुद्धौ प्रोक्ताऽत्र सूरिभिः ॥ २९ ॥

पण्डितों ने संसार में वर्णों की उच्चता के अनु[illegible] अथवा फिर उनके रहने के तरीक़ों की पवित्रता [illegible] अनुसार अशौच की शुद्धि में क्रम से अधिकाधिक दिन कहे हैं।

नाश्नीयाद् ब्राह्मणस्तस्मादन्नमेषां यथाक्रमम् ।
यावत्तेषां न शौचं स्यात् संपूर्णं शास्त्रसम्मतम् ॥ ३० ॥

इसलिए जब तक इनकी शास्त्र में मानी हुई क्रमानुसार पूरी शुद्धि न हो जाय, तब तक ब्राह्मण इनका अन्न न खाय।

यश्चाशौचवतामन्नं जलं गृह्णाति वा पुनः ।
सोऽसगोत्रोऽपि भवति तेषु शुद्धेषु शुद्धिमान् ॥ ३१ ॥

जो अशौचवालों का अन्न और जल ग्रहण करता (खाता) है, वह उनके गोत्र का न होने पर भी उनके शुद्ध होने पर ही शुद्ध होता है।

विवाहान्ते पितुर्वंशे नाशौचं कन्यकामृतौ ।
नारीणां तु विवाहोर्ध्वं सापिण्ड्यं परिकीर्तितम् ॥३२॥

विवाह के बाद कन्या के मरने पर पिता के वंश में अशौच नहीं होता। विवाह के बाद (मृत्यु होने पर) स्त्रियों की भी सपिण्डी करना कहा है।

पूर्णे सूतक आशौचे ये समानोदकाः पुनः ।
ते त्रिभिर्दिवसैः शुद्धा ज्ञेयाः शास्त्रमतानुगैः ॥ ३३ ॥

(सपिण्डों के) पूरे दश दिन के अशौच और सूतक में जो सात पीढ़ी से ऊपरवाले बांधव (समानोदक) हैं, वे तीन दिन से शुद्ध होते हैं; ऐसा धर्मशास्त्र के अनुसार चलनेवालों को समझना चाहिए।

प्रेतकर्म च यः कुर्याद् वंश्योऽन्यो वापि कश्चन ।
अहोरात्रैस्तु दशभिस्तस्याशौचं निवर्तते ॥ ३४ ॥

जो कोई भी वंश का अथवा दूसरा प्रेत का क्रिया-कर्म करता है, उसका अशौच दश दिन-रात बाद दूर होता है।

अशौचकालिकी वृद्धिः शास्त्रकारैर्न सम्मता ।
नावकाशो विहन्येत यतो मङ्गलकर्मणाम् ॥ ३५ ॥

शास्त्रकार पण्डितों ने अशौच के समय का बढ़ाना उचित नहीं माना है, जिससे कि मंगल (शुभ) कार्यों का मौक़ा नष्ट न हो।

शास्त्रज्ञैर्वर्जितानीह त्यक्त्वा कर्माण्यसंशयम् ।
सत्कर्माचरणे दोषो नाशौचेऽपि मतो बुधैः ॥ ३६ ॥

संसार में शास्त्र जाननेवालों द्वारा वर्जित कामों को छोड़कर समझदार लोग अशौच में भी अच्छे कामों के करने में निःसन्देह दोष नहीं मानते।

प्रजापालनसक्तत्वाद् राजाऽशौचं न विन्दति ।
तदिच्छया स्युरन्येऽपि सद्यः पूता मनोर्मतम् ॥ ३७ ॥

प्रजा की पालना में लगे रहने से राजा को अशौच नहीं लगता और उसकी इच्छा से दूसरे लोग भी तत्काल अशौच से मुक्त हो जाते हैं, ऐसा मनु का मत है।

शवं स्पृष्ट्वा चरेत् स्नानं सवस्त्रं शुद्धिकाङ्क्षया ।
संन्यासिनस्तु निखनेत् प्रेतकृत्यं च नाचरेत् ॥ ३८ ॥

मुर्दे को छूकर, शुद्धि की इच्छा से, कपड़ों सहित स्नान करे। संन्यासियों को (मरने पर) पृथ्वी में गाड़े और उनका प्रेत-कर्म न करे।

अशौचे सूतके वापि मतैक्यं नोपलभ्यते ।
कुलरीत्यनुगस्तस्मान्न लोके हास्यतामियात् ॥ ३९ ॥

अशौच और सूतक के विषय में (शास्त्रकारों का) एक मत नहीं मिलता। इसलिए अपने कुल की रीति के अनुसार चलनेवाला संसार में हँसी का पात्र नहीं होता।

धर्मोऽपि जनविद्विष्टो वर्ज्यो निन्दामनिच्छता ।
शास्त्रकारैर्यदुक्तं तत् प्रतिपाल्यं प्रयत्नतः ॥ ४० ॥

निन्दा से बचने की इच्छावाले पुरुष को लोगों से निन्दित धर्म को भी छोड़ देना चाहिए। ऐसा जो शास्त्रकर्ताओं ने कहा है, उसका यत्नपूर्वक पालन करना चाहिए।

शावाशौचस्य जगति हेतुद्वयमनुमीयते ।
संक्रामकाणां रोगाणां निरोधः शुक्प्रकाशनम् ॥ ४१ ॥

संसार में मृत्यु के कारण होनेवाले अशौच के दो कारण अनुमान किये जाते हैं—छूतवाले रोगों की रोक और (मरनेवाले के लिए) शोक प्रकट करना।

(मरनेवाले के घर का अन्न-जल दस दिन तक ग्रहण न करना सम्भवतः प्रथम कारण से ही रक्खा गया है।)

सूतकस्यापि संसारे कारणे द्वे मते बुधैः ।
परिचर्या प्रसूताया बालस्य च सुरक्षणम् ॥ ४२ ॥

बुद्धिमानों ने सन्तान उत्पन्न होने पर लगनेवाले सूतक के भी दो कारण माने हैं—ज़च्चा की (ठीक तौर से) सेवा और बच्चे की ठीक तौर से रक्षा। (अर्थात् उन दस दिनों तक उस घर का अन्न-जल अग्राह्य होने से घर के लोग बधाई देने को आनेवालों के भोजन-पान के प्रबन्ध में न उलझकर प्रसूता की सेवा में समय दे सकें और प्रसूति-गृह के अपवित्र माने जाने से बाहर के लोग भीतर घुसकर उसके वातावरण को दूषित न कर सकें और इस तरह बालक हानि से बचा रहे।)

सकृदन्नमशौचे स्यात् सैन्धवं लवणेषु च ।
भूशय्या ब्रह्मचर्यं च स्नानं भोज्यमनामिषम् ॥ ४३ ॥

मरणाशौच में एक बार अन्न खाय, नमकों में सेंधा नमक काम में ले, पृथ्वी पर सोवे, ब्रह्मचर्य से रहे, (नित्य) स्नान करे और मांसरहित भोजन भक्षण करे।

विदेशे मरणं श्रुत्वा सपिण्डस्त्वशुचिर्भवेत् ।
दशरात्रावशिष्टानि दिवसान्येव केवलम् ॥ ४४ ॥

विदेश में मृत्यु होना सुनकर सपिण्ड (पूर्णाशौच में) दस दिन में से जितने दिन बाक़ी हों, उतने दिन तक ही अपवित्र रहता है।

दशरात्रोत्तरं ज्ञात्वा स्नानाच्छुद्धो भवेन्नरः ।
सूतकेऽपि विधिर्ज्ञेय एष एव मनीषिभिः ॥ ४५ ॥

दस रात्रियों के बाद मरण का समाचार जानकर मनुष्य स्नान से शुद्ध हो जाता है। पण्डितों को यही नियम (सन्तानोत्पत्ति के अशौच) सूतक में भी समझना चाहिए।

अशौचे चेदशौचं स्यात् सूतके चेच्च सूतकम्।
प्रथमस्य दशाहेन शुद्धिः शास्त्रेषु सम्मता॥ ४६॥

यदि अशौच के दिनों में दूसरा अशौच हो जाय या सूतक में दूसरा सूतक हो जाय तो पहले (अशौच या सूतक) के दस दिन निकल जाने पर शुद्धि होना शास्त्रों में माना है।

अशौचे सूतकं चेत्तु शुद्धिः पूर्वदशाहतः।
सूतके चेदशौचं स्याच्छुद्धिः परदशाहतः॥ ४७॥

अशौच में सूतक हो जाय तो पहले (अशौच) के दश दिनों से शुद्धि होती है, और सूतक में अशौच हो जाय तो दूसरे (अशौच) के दश दिन बीतने पर शुद्धि होती है। (अर्थात् सूतक से अशौच बलवान् है।)

पाराशरमता शुद्धिर्वर्तमानोपयोगिनी।
शावाशौचस्य लोकेऽथ सूतकस्य च कथ्यते॥ ४८॥

आगे मृतक के अशौच और जन्म के अशौच की, जगत् में वर्तमान समय के उपयुक्त प्रतीत होनेवाली, पाराशरस्मृति में मानी गई, शुद्धि कही जाती है।

प्रेताच्चतुर्थो दशभिर्दिनैः षड्भिश्च पञ्चमः।
षष्ठश्चतुर्भिः संशुध्येत् सप्तमश्च त्रिभिः क्रमात्॥ ४९॥

क्रम से प्रेत से चौथी पीढ़ी (तक) का (पुरुष) दश दिन (अहोरात्र) से, पाँचवीं का छः दिन से, छठी का चार दिन से और सातवीं का तीन दिन से शुद्ध होता है।

श्रुतदेशान्तरमृतिः सद्यः स्नानेन शुध्यति।
सूतकेऽम्बा दशाहेनाऽपृक्त आचमनात् पिता॥ ५०॥

दूसरे देश में हुई मृत्यु को सुनकर उसी समय स्नान कर लेने से (पुरुष) शुद्ध हो जाता है। बालक उत्पन्न होने पर माता दश दिन से और (प्रसूता से) संसर्ग न रखनेवाला पिता आचमन कर लेने से शुद्ध होता है।

शुद्धिनियमाः

आतपेनाग्नितापेन स्नानेनाथानिलेन च।
बाह्यशुद्धिर्नरस्योक्ता यथाकालं प्रयत्नतः॥ ५१॥

मनुष्य की बाहरी शुद्धि समयानुसार प्रयत्न द्वारा धूप से, अग्नि के ताप से, स्नान से और हवा से होना कहा है।

सूर्यातपेन शुध्यन्ति वस्त्राणि विमलानि चेत्।
वायुना चोष्णवाष्पेण निर्मलेन तथाम्बुना॥ ५२॥

यदि वस्त्रों में मल (मैल) न लगा हो तो वे धूप से, वायु से, गरम भाप से और साफ़ पानी से शुद्ध हो जाते हैं।

क्षालयानि समलानीह शीतेनोष्णेन चाम्भसा।
स्निग्धक्षारेण शुद्धेन तैलेन क्षितिजेन च॥ ५३॥

जिन वस्त्रों में मल (मैल) लगा हो, उनको ठंडे जल से, गरम जल से, चिकनाई मिले खार (राठे या साबन आदि) से अथवा शुद्ध किये पृथ्वी से प्राप्त होनेवाले तेल (पेट्रोल) से धोना चाहिए।

तानि धौतमलान्येवमातपे शोषयेत्ततः।
सारमेतत्तु विज्ञेयं वस्त्रशुद्धेर्मयोदितम्॥ ५४॥

इस तरह से साफ़ किये उन वस्त्रों को बाद में में सुखा ले। यह मेरा कहा वस्त्र-शुद्धि का सार समझना चाहिए।

कौशेयोर्णादिवस्त्राणि भवेयुर्निर्मलानि चेत्।
आतपेनाऽथ वातेन शुध्यन्त्यत्र न संशयः॥ ५५॥

रेशम और ऊन के वस्त्र भी यदि निर्मल (मल-रहित) हों तो हवा और धूप से शुद्ध हो जाते हैं, इसमें संदेह नहीं है।

क्षालयेत्समलान्येत्र चमाजतैलस्य लेपनैः।
स्निग्धक्षारजलेनाथ शोषयेदातपे ततः॥ ५६॥

मल (मैल) वाले रेशमी और ऊनी वस्त्रों को ही पृथ्वी से प्राप्त होनेवाले तेल (पेट्रोल) के लेप से अथवा स्नेहयुक्त क्षार (राठे या साबन) मिले पानी से धो ले और फिर धूप में सुखा ले।

अमलानि तु भाण्डानि धातूपलमयानि चेत्।
सम्यक् प्रक्षालनेनैव शुद्धिमायान्ति सत्वरम्॥ ५७॥

अगर धातु या पत्थर के बने बर्तन मल (चिकनाई आदि) से युक्त न हों तो अच्छी तरह से धो लेने से ही शीघ्र शुद्ध हो जाते हैं।

स्निग्धानि मलयुक्तानि क्षाल्यान्युष्णजलेन तु।
क्षारमिश्रेण तोयेन जलेनाम्लीकृतेन वा॥ ५८॥

(धातु या पत्थर के) चिकने या मल (मैल) लगे बर्तन गरम पानी से, क्षार (सोडा आदि) मिले जल से या खटाई के पानी से धोने चाहिए ।

क्षाराम्लोष्णजलोक्षा च काष्ठमृन्निर्मितेष्वपि ।
नीरन्ध्रेषु क्रिया कार्या भाण्डेषु मलनाशिनी ॥ ५९ ॥

क्षार, खटाई और गरम पानी से धोकर मल दूर करने का बतलाया हुआ तरीक़ा बिना छिद्रों (pores) वाले लकड़ी के बने और मिट्टी के बने बर्तनों में भी काम में लेना चाहिए ।

धात्वश्मलोष्टभाण्डानि सरन्ध्रोपस्कृतानि चेत् ।
शुध्यन्त्यनलतापेन तीक्ष्णाम्लेनाथ वा पुनः ॥ ६० ॥

यदि धातु, पत्थर और मिट्टी के बर्तन छेदों (pores) वाले या नक़्क़ाशी के कामवाले हों तो वे आग में तपाने या तेज़ाब से शुद्ध होते हैं ।

विण्मूत्रष्ठीवनैश्चापि रक्तपूयैश्च दूषितम् ।
मृण्मयं तु परित्याज्यं भाण्डं लोके सुनिश्चितम् ॥६१॥

संसार में पाख़ाने, पेशाब और थूक से अथवा रक्त या पीप से दूषित मिट्टी के बर्तन को निश्चयपूर्वक त्याग दे ।

तक्षणं काष्ठभाण्डानां परां शुद्धिं प्रयच्छति ।
शुद्धितत्त्वमिदं ज्ञात्वा कार्योऽन्यार्थेऽपि निर्णयः ॥६२॥

लकड़ी के बर्तनों को छील देना उनकी पूरी शुद्धि करता है । इस शुद्धि के सार को समझकर अन्य वस्तुओं की शुद्धि का भी निर्णय कर लेना चाहिए ।

वातेनोत्पवनेनोष्णीकरणेन द्रवः पुनः ।
विशुध्यत्यातपेनान्नं भस्मना सलिलेन वा ॥ ६३ ॥

द्रव (पानी आदि) पदार्थ हवा से, साफ़ करने (छान लेने) से और गरम करने से शुद्ध होता है । अन्न (गेहूँ आदि) धूप से, राख मिला देने से और जल से शुद्ध होता है ।

मूलशाकफलानां च ज्ञेया शुद्धिस्तु धान्यवत् ।
चर्मणां वैदलानां तु कार्या शुद्धिश्च वस्त्रवत् ॥ ६४ ॥

मूल, शाक (सब्ज़ी) और फलों का शुद्धि अन्न की तरह जाननी चाहिए । चमड़े और बाँस (बेत आदि) की बनी वस्तुओं की शुद्धि वस्त्रों की शुद्धि की तरह करनी चाहिए ।

भूमिगं निर्मलं नीरं तृष्णाशान्तिक्षमं यदि ।
स्वल्पमप्यमृतं शुद्धं विज्ञेयं शास्त्रसम्मतम् ॥ ६५ ॥

यदि पृथ्वी पर इकट्ठा हुआ निर्मल जल थोड़ा होने पर भी प्यास बुझाने को पर्याप्त हो तो, उसे अमृत के तुल्य और पवित्र मानना चाहिए । यह बात शास्त्र (मानवधर्मशास्त्र) में मानी हुई है ।

सम्मार्जनैर्जलाऽऽसेकैरुल्लेखोपाञ्जनैस्तथा ।
भूमिः शुद्धात्र विज्ञेया पावकेनापि वा पुनः ॥ ६६ ॥

जगत में झाड़ू देने से, पानी छिड़कने से, खुरचकर ऊपर की मिट्टी हटा देने से, लीप देने से और फिर अग्नि से भी भूमि शुद्ध होती है, ऐसा जानना चाहिए ।

श्वा शुचिर्मृगयासक्तो व्याधः क्रव्याद एव वा ।
गौर्भूर्मिर्मरुदश्वश्च रजः शुद्धानि सर्वदा ॥ ६७ ॥

शिकार में लगा कुत्ता, व्याध (बहेलिया) और शिकारी पशु-पक्षी पवित्र होते हैं । (तथा) गाय, पृथ्वी, हवा, घोड़ा और रज (धूलि) ये सदा पवित्र हैं ।

मक्षिका विप्रुषो यास्तु विशुद्धा मनुरब्रवीत् ।
अनिवार्यतया शुद्धाः किन्तु ता रोगकारणम् ॥ ६८ ॥

मनु ने मक्खी, और मुँह से उछले थूक के छींटों को शुद्ध कहा है । वे रोके न जाने के कारण ही शुद्ध हैं, लेकिन (वास्तव में) वे रोग के कारण हैं ।

मूत्रेन्द्रियं तु प्रक्षाल्यं मूत्रान्ते शुद्धवारिणा ।
तदभावे तु विन्दूनां रोधान्तं स्थितिमाचरेत् ॥ ६९ ॥

पेशाब करने के बाद मूत्रेन्द्रिय को साफ़ पानी से धो ले । पानी न होने पर (पेशाब की) बूँदें गिरना रुकने तक बैठा रहे ।

पर्याप्तेनाम्भसा कार्यं गुदप्रक्षालनं नरैः ।
मलोत्सर्गे यतः शुद्धिर्मलश्लेष्मादितो भवेत् ॥ ७० ॥

मनुष्य पाख़ाना फिरने पर मलस्थान को काफ़ी (आवश्यकतानुसार) पानी से धो ले, जिससे कि मल (और उसके साथ के) श्लेष्मा (कफ़) आदि से अच्छी तरह शुद्धि हो जाय ।

हस्तावपि परिक्षाल्यौ मृदा शुद्धाम्बुना पुनः ।
यावन्मलं च गन्धश्च श्लेष्मस्नैग्ध्यं च नश्यति ॥ ७१ ॥

इसके बाद हाथों को भी तब तक मिट्टी और शुद्ध जल से धोवे, जब तक कि मल, उसकी गंध और श्लेष्मा की चिकनाई दूर न हो जाय ।

शुद्धेः सारं पदार्थानां समूलं मलनाशनम् ।
गन्धान्मुक्तिः प्रयत्नेन लक्ष्मप्रक्षालनं तथा ॥ ७२ ॥

शुद्धि का सार यह है कि वस्तुओं में लगा मैल बिलकुल नष्ट कर दिया जाय, कोशिश के साथ उसका गन्ध हटा दिया जाय और उसका दाग धो दिया जाय।

ततः प्रक्षाल्य वदनं गण्डूषैः शोधयेन्मुखम् ।
पादावपि परिक्षाल्या पूर्णां शुद्धिमभीप्सता ॥ ७३ ॥

इसके बाद मुँह धोकर कुल्लों द्वारा (भीतर से) मुख साफ़ कर ले। पूरी शुद्धि चाहनेवाले को पैर भी धो लेने चाहिए।

शरीराद् यानि चान्यानि निर्गच्छन्ति मलानि नः ।
क्षाल्यानि तानि तोयैर्वा मार्ज्यानि शुचिवाससा ॥७४॥

हमारे शरीर से (आँख, नाक, कान, त्वचा आदि से) दूसरे भी जो मल निकलते हैं, उनको पानी से धो लेना चाहिए। अथवा साफ़ कपड़े से पोंछ लेना चाहिए।

विप्रुषो मुखनिर्याताः श्मश्रूणि मुखगानि च ।
रदसंधिगतं चान्नं गण्डूषोच्छलिताः कणाः ॥ ७५ ॥
नैवैतानि समुच्छिष्टान्येतदेव मनोर्मतम् ।
अनिवार्यं विचार्यं नो इति सिध्यति चामुना ॥ ७६ ॥
(युग्मम्)

मुँह से उछली थूक की बूँदें, मुह में गई मूँछें, दाँतों के जोड़ों में फँसा अन्न और कुल्ले से उड़े छींटें, ये जूठे नहीं होते, यह मनु का मत है, और इससे सिद्ध होता है कि जिसका रोकना असम्भव हो उसका विचार नहीं करना चाहिए।

स्त्रीकर्तव्यानि

गार्हस्थ्यसुखलिप्सा चेत् स्त्री स्वातन्त्र्यं परित्यजेत् ।
तासां कल्याणकामैश्च भवितव्यं कुटुम्बिभिः ॥ ७७ ॥

यदि गृहस्थ के सुख की इच्छा हो तो स्त्री स्वतंत्रता को छोड़ दे और उनके कुटुम्बियों को चाहिए कि वे उनके कल्याण की कामना करते रहें।

पितुराज्ञानुगा बाल्ये भर्तुर्वश्या च यौवने ।
मृते भर्तरि पुत्राणामनुगा स्त्री प्रशस्यते ॥ ७८ ॥

बचपन में पिता की आज्ञा में रहनेवाली, जवानी में पति के वश में रहनेवाली और पति के मरने पर पुत्रों की इच्छानुसार चलनेवाली स्त्री की प्रशंसा होती है।

मानहानिर्न यावत्स्यादत्याचारोऽपि वा पुनः ।
वस्त्रान्नयोरभावश्च तावदाज्ञानुगा भवेत् ॥ ७९ ॥

जब तक मानहानि न हो, अत्याचर (ज़ोर-ज़ुल्म) न हो और वस्त्र-अन्न का अभाव न हो, तब तक (स्त्री) आज्ञा-पालन करती रहे।

एकाकिनी न निवसेत् कुत्रापि तु कुलाङ्गना ।
यथाशक्यं च निवसेत् पित्रा भर्त्रा सुतैः सह ॥ ८० ॥

भले कुल की स्त्री कहीं भी अकेली न रहे; जहाँ तक हो पिता, पति और पुत्रों के साथ रहे। (अर्थात् कुमारावस्था में पिता के, विवाहित अवस्था में पति के और वृद्धावस्था में पुत्रों के साथ रहे।)

गृहकार्ये निपुणया प्रसन्नाकारया तथा ।
आयो न व्यया भाव्यं स्वच्छोपस्करयाऽपि च ॥ ८१ ॥

स्त्री को घर के काम में चतुर, प्रसन्नमुख, आमदनी से कम ख़र्च करनेवाली और सब वस्तुओं को साफ़ रखनेवाली होना चाहिए।

पिता भ्राता पितृव्यो वा यस्मै निःस्वार्थचेतसा । ॥
दद्याद् यूने सुयोग्याय स सेव्यो जीवितावधि ॥ ८२ ॥

बिना किसी प्रकार के निजी मतलब के पिता, भाई या चाचा जिस सुयोग्य युवक के साथ स्त्री का विवाह कर दे, उसकी उसे जीवनपर्यन्त सेवा करनी चाहिए।

तस्मिंश्चापि दिवं याते या मर्यादां सुरक्षति ।
सन्ततिं नाम भर्तुश्च सा नारीह प्रशस्यते ॥ ८३ ॥

और उस (पति) के मरने पर भी जो मर्यादा (कुल की) की, बाल-बच्चों की और पति के नाम की रक्षा करती है, वह स्त्री इस संसार में प्रशंसा पाती है।

भर्तृसेवेह नारीणां गार्हस्थ्यसुखदा मता ।
विगुणोऽपि यथाशक्यं सेव्यस्तस्मात् पतिः स्त्रिया ॥८४॥

जगत् में स्त्रियों को पति की सेवा करना ही गृहस्थी का सुख देनेवाला माना है। इसलिए जहाँ तक हो स्त्री को गुणहीन पति की भी सेवा करनी चाहिए।

पतिशुश्रूषया नारी सर्वत्रैव महीयते ।
तत् तद्वाधीनि सर्वाणि सुकृतान्यपि वर्जयेत् ॥ ८५ ॥

पति की सेवा से स्त्री सब ही जगह आदर पाती है; इसलिए उसमें विघ्न डालनेवाले अच्छे कामों को भी छोड़ दे। (अर्थात् स्त्री के लिए पति-सेवा ही मुख्य कर्तव्य है।)

पत्यौ जीवति वा प्रेते विरुद्धं नाचरेत् सती ।
पुत्रेच्छयाऽपि परगा निन्दामाप्नोति शाश्वतीम् ॥ ८६ ॥

सती स्त्री पति के जीतेजी या मरने पर भी (उसके) विरुद्ध कोई कार्य न करे । वह पुत्र प्राप्त की इच्छा से पर-पुरुष के पास जाने से भी सदा रहनेवाली निन्दा को प्राप्त करती है ।

...धिकादपि पराच्छ्रेष्ठः स्वोऽल्पगुणः पतिः ।
...कर्मणा वाचा सेव्यस्तस्मात्पतिर्निजः ॥ ८७ ॥

... गुणवाले पर-पुरुष से भी अपना थोड़े गुणों-वाला पति श्रेष्ठ है । इसलिए मन, कर्म और वचन से अपने पति की सेवा करनी चाहिए ।

कुटुम्बिकर्तव्यानि

पितृभ्रातृसुताद्यैश्च सापि मान्या प्रयत्नतः ।
नापमानश्च कार्योऽस्याः पोष्या किन्तु सुखेच्छया ॥८८॥

पिता, भाई और पुत्रों को भी उसका यत्नपूर्वक मान ... चाहिए, उसका अपमान नहीं करना चाहिए, ...तु सुख-शान्ति की इच्छा से उसका भरण-पोषण करना चाहिए ।

पतिकर्तव्यानि

पत्याऽपि माननीया सा गृहलक्ष्मीस्वरूपिणी ।
भार्या नित्यं प्रयत्नेन नोद्वेज्या च कदाचन ॥ ८९ ॥

पति को भी घर की लक्ष्मीरूप उस पत्नी का सदा यत्नपूर्वक मान रखना चाहिए और उसे कभी दुखी न करना चाहिए ।

भारक्षमे सुते जाते भारं तस्मिन्निवेशयेत् ।
दर्शयेदुचितं मार्गं यथाकालं विचक्षणः ॥ ९० ॥

बुद्धिमान् पुरुष पुत्र के (गृहस्थी का) भार उठाने में समर्थ हो जाने पर (सारा) भार उस पर छोड़ दे और उसे समयानुसार ठीक रास्ता दिखावे ।

गृहस्थाश्रमिणां धर्म उक्तो यः शास्त्रसम्मतः ।
अथातः संप्रवक्ष्यामि वानप्रस्थोचितं तु यत् ॥ ९१ ॥

(यहाँ तक) शास्त्रों में माना हुआ गृहस्थों का धर्म कहा । इसके आगे वानप्रस्थाश्रम के योग्य जो धर्म है वह कहूँगा ।

यो नन्दनोऽजनि मुकुन्दमुरारिसूरे-
विश्वेश्वरः किल सतीमणिचाँदरान्याम् ।
गार्हस्थ्यकृत्यविधिरेष समापितेन
विश्वेश्वरस्मृतिगपञ्चमकाधिकारः ॥ ९२ ॥

मुकुन्दमुरारिजी द्वारा सती श्रेष्ठा चाँदरानीजी के गर्भ से जो विश्वेश्वर नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, उसने विश्वेश्वर-स्मृति में का गृहस्थ के कर्तव्यों की विधिवाला यह पाँचवाँ अधिकार समाप्त किया ।

अपनी गाथा

श्रीतेजनारायण काक एम्० ए०

संध्या में मेरा स्वर अशान्त—
खोये खग-रव-सा विकल, दीन—विचलित करता प्रतिपल दिगन्त !
वे तारे—मेरे अश्रुबिन्दु—तम-सी पलकों में रहे भूल ;
वे किरणें—मेरी उरमाला के सूखे-से दो-चार फूल !
ये बादल—मेरी दीन वेश-भूषा-से दिखते मलिन, छिन्न ;
यह नभ का कोना—मेरे सूने उर-सा लगता है मलीन ।
इस सांध्य-गगन-सा ही देखो, हूँ खड़ा आज मैं तमोभ्रान्त—
तरु-मर्मर के करुण स्वर में कहता अपनी गाथा दुखान्त ।

विश्वयुद्ध के बाद

श्रीरामनारायण यादवेन्दु बी० ए०, एल्-एल्० बी०

राष्ट्रपति विल्सन के सिद्धान्त

सन् १९१४–१८ का विश्वयुद्ध वर्सेल्स की सन्धि के साथ समाप्त हुआ। ८ जनवरी १९१८ को संयुक्तराज्य अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन ने कांग्रेस के समक्ष अपना ऐतिहासिक भाषण दिया। शान्ति-सन्धि के १४ आधारभूत सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला। ये चौदह सिद्धान्त निम्न प्रकार हैं—

१—प्रकाश्यरूप में प्रकाश्य शान्ति-सन्धि होगी और उसके बाद कोई किसी भी प्रकार की गुप्त अन्तर-र्राष्ट्रीय सन्धि या समझौता नहीं होगा। परंतु राजदूत के कार्य तथा उनकी नीतिनिर्माण सदैव स्पष्टरूप से होंगे।

२—प्रादेशिक समुद्री सीमा को छोड़कर शान्ति और युद्धकाल में समुद्र में जलयान चलाने की पूर्ण स्वाधीनता होगी। परन्तु उन समुद्रों में जहाज़ नहीं चलाये जायँगे जो समूचे या आंशिकरूप से अन्तर्राष्ट्रीय निर्णय को कार्यान्वित करने के लिए बन्द कर दिये गये हों।

३—जो राष्ट्र शान्ति की स्थापना में सहयोग देंगे, उन समस्त राष्ट्रों के बीच से यथासंभव समस्त आर्थिक प्रतिबंध हटा दिये जायँगे तथा व्यापार की समानता स्थापित की जायगी।

४—पर्याप्त गारंटी दी जायगी और ली जायगी कि राष्ट्रीय अस्त्र-शस्त्रों को इतना कम कर दिया जा[illegible] जितना कि राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए उचित होगा।

५—समस्त औपनिवेशिक दावों का निर्णय या निर्धारण स्वतंत्र, सुलझे दिमाग़ और सर्वथा निष्पक्ष भाव से किया जायगा और यह निर्धारण इस सिद्धान्त पर होगा कि प्रभुत्व के सब प्रश्नों का निर्णय करने में उस सरकार के दावों के साथ जिसका निर्णय होना है उसकी जनता के हितों का पूरा ध्यान रक्खा जायगा।

६—समस्त रूस के प्रदेश को ख़ाली कर दिया जायगा और रूस के समस्त प्रश्नों का ऐसा निर्णय किया जाय जिससे उसे समस्त स्वाधीन राष्ट्रों की सर्वश्रेष्ठ सहायता अपने राजनीतिक विकास और राष्ट्रीय नीति के स्वतंत्र निर्णय के लिए मिल सके और उसे अपनी पसन्द की संस्थाओं के अन्तर्गत स्वाधीन राष्ट्रों के समाज में सचाई के साथ अभिनन्दन प्राप्त हो सके। इस अभिनन्दन से भी अधिक उसे हर तरह की सहायता दी जाय जिसकी उसे आवश्यकता हो तथा जिसकी वह इच्छा करे। आनेवाले समय में राष्ट्रों द्वारा रूस के साथ किया गया व्यवहार उनकी सद्भावना, उनका अपने हितों से भिन्न उसकी

...वश्यकताओं के आत्मबोध और उनकी बुद्धिमत्ता तथा निःस्वार्थ सहानुभूति भी सच्ची कसौटी होगा।

७—सारा संसार इससे सहमत होगा कि बेलजियम को भी ख़ाली कर दिया जाय और उसके प्रभुत्व पर ... मर्यादा स्थापित किये बिना ही उसे पूर्वावस्था में ... या जाय; और कोई कार्य राष्ट्रों में उन क़ानूनों ... श्रद्धा पैदा नहीं करेगा जितना कि यह कार्य ... जिन्हें इन राष्ट्रों ने स्वयं बनाया है—परस्पर ... संबन्धों के निर्धारण के निमित्त। इसके ... समस्त अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून की वैधानिकता तथा उसका ढाँचा सदैव के लिए नष्ट हो जायगा।

८—समस्त फ़्रांस के प्रदेशों को स्वतंत्र कर दिया जाय और जिन प्रदेशों पर आक्रमण किये गये हैं, उन्हें उसे वापस कर दिया जाय और प्रशा द्वारा सन् १८७१ में अल्सेस-लोरेन प्रदेश के संबन्ध में फ़्रांस ...थ जो अन्याय हुआ था और जो ५० वर्षों से ...शान्ति के लिये एक ख़तरा रहा है, अब उसे ...स फ़्रांस को दे दिया जाय।

९—इटली की प्रादेशिक सीमाओं का पुनर्निर्माण किया जाय।

१०—आस्ट्रिया-हंगरी की जनता, जिन्हें हम संसार के राष्ट्रों के बीच सुरक्षित देखना चाहते हैं, को स्वायत्त-शासन के विकास की संपूर्ण सुविधाएँ दी जाय।

११—रूमानिया, सर्बिया और मान्टीनिग्रो को ख़ाली कर दिया जाय; अधिकृत प्रदेशों को वापस कर दिया जाय और सर्बिया को समुद्र-तट तक पहुँचने का स्वतंत्र सुयोग दिया जाय और बालकन राज्यों के परस्पर संबंधों का निर्णय मैत्री भाव से ऐतिहासिक परंपरा के आधार पर राजभक्ति तथा राष्ट्रीयता के आधार पर किया जाय। और बालकन राज्यों की राजनीतिक तथा आर्थिक स्वाधीनता तथा प्रादेशिक सुरक्षा के लिए अंतर्राष्ट्रीय गारंटी दी जाय।

१२—वर्तमान ओटोमन-साम्राज्य के तुर्की प्रदेशों की प्रभुता (Sovereignty) को सुरक्षित रक्खा जाय, परन्तु तुर्की शासन के अन्तर्गत जो दूसरी राष्ट्रीय जातियाँ (nationalities) हैं उनके जीवन की सुरक्षा और उनके स्वायत्त-विकास के लिए सुयोग की गारंटी दी जाय, और डार्डनेलीज को स्थायी रूप से अन्तर्राष्ट्रीय गारंटी के अन्तर्गत समस्त राष्ट्रों के व्यापार तथा जहाज़ों के लिए स्वतंत्र मार्ग स्वीकार किया जाय।

१३—एक स्वतन्त्र पोलिश राज्य की स्थापना की जाय और उसके अन्तर्गत वे प्रदेश हों जिनमें निश्चय रूप से पोलिश जनता निवास करती हो और पोलिश राज्य की जनता के लिए समुद्र तक पहुँचने की स्वतन्त्र व्यवस्था हो और अन्तर्राष्ट्रीय विधान द्वारा उसकी राजनीतिक तथा आर्थिक स्वाधीनता तथा प्रादेशिक सुरक्षा की गारंटी दी जाय।

१४—एक विशेष समझौते के अनुसार राष्ट्रों की एक सामान्य सभा बनाई जाय जो समस्त बड़े और छोटे राज्यों की प्रादेशिक सुरक्षा (रक्षा) तथा राजनीतिक स्वाधीनता की रक्षा के लिए पारस्परिक गारंटी की व्यवस्था करे।

इन चौदह सिद्धान्तों का इँगलैंड में काफ़ी प्रचार किया गया। उदार लोकमत ने इन सिद्धान्तों के प्रचार में योग दिया। इँगलैंड की सरकार ने जर्मनी में इनका प्रबल प्रचार किया। इस प्रचार का परिणाम यह निकला कि जर्मनी की जनता शान्ति के लिए अपनी उत्सुकता प्रकट करने लगी और ५ अक्टूबर १९१८ को जर्मन रिपबलिकन सरकार ने उपर्युक्त १४ सिद्धान्तों के आधार पर शान्ति का प्रस्ताव किया। जर्मन सरकार ने राष्ट्रपति विलसन से यह प्रार्थना की कि वे उपर्युक्त १४ सिद्धान्तों के आधार पर शान्ति स्थापित करने के लिए प्रयत्न करें। इसके बाद जर्मन सरकार ने राष्ट्रपति विलसन से यह कहा कि वे मित्र-राष्ट्रों से भी पूछें कि वे शान्ति चाहते हैं। मित्र-राष्ट्रों ने उपर्युक्त सिद्धान्तों के आधार पर शान्ति-सन्धि करने का प्रस्ताव स्वीकार किया। परन्तु उन्होंने दो शर्तें लगा दीं। पहली यह कि 'समुद्र की स्वाधीनता' के सम्बन्ध में बहुत ही व्यापक व्याख्याएँ की जा सकती हैं जिन्हें वे स्वीकार नहीं कर सकते। शान्ति-सम्मेलन में इस पर पुनर्विचार की उन्हें पूर्ण स्वतन्त्रता दी जाय। दूसरी शर्त प्रदेशों के वापस करने के सम्बन्ध में पेश की गई। वह यह कि प्रदेशों को वापस करने के साथ-

साथ जर्मनी को उस समस्त हानि के लिए मित्र-राष्ट्रों को क्षतिपूर्ति देनी होगी जो मित्र-राष्ट्रों की जनता तथा उसकी सम्पत्ति को जर्मनी के आक्रमणों से हुई है।

जर्मन सरकार को ब्रिटेन की उपर्युक्त शर्तें स्वीकार करनी पड़ीं और अन्त में उसने आत्म-समर्पण कर दिया।

वर्सेल्स की सन्धि

राष्ट्रपति विल्सन के उपर्युक्त १४ सिद्धान्तों के विषय में कई बातें विशेष उल्लेखनीय हैं। इन सिद्धान्तों में इतनी अधिक अस्पष्टता थी कि राजनीतिज्ञों ने इनकी मनमानी व्याख्याएँ कीं। जर्मनी की ओर से इसकी ओर कोई संकेत नहीं किया गया ; क्योंकि उसकी आन्तरिक अवस्था अत्यन्त शोचनीय थी और लोकमत युद्ध को अधिक देर तक चलाये रखने के विरुद्ध था, इसलिए जर्मनी को बाध्य होकर शान्ति-सन्धि करनी पड़ी। दूसरी ओर ग्रेट ब्रिटेन और अन्य मित्र-राष्ट्र राष्ट्रपति विल्सन की सहानुभूति प्राप्त करने के उद्देश्य से इन सिद्धान्तों में अपना विश्वास प्रकट करने लगे। वस्तुतः विग्रही राज्यों में शान्ति की सच्ची भावना का अभाव था। वर्सेल्स में शान्ति-सन्धि का आयोजन किया जा रहा था और उधर प्रत्येक देश में युद्ध की वासना से जनता उन्मत्त थी। राज्यों का वातावरण विषैला और अविश्वासपूर्ण था। जनता में घृणा, प्रतिकार, भय, संशय तथा प्रलोभन के भाव फूट पड़े थे। ये थीं परिस्थितियाँ जिनमें शान्ति-भवन का निर्माण किया जा रहा था। यहाँ हम संक्षेप में इस सन्धि के सम्बन्ध में विचार करने का प्रयास करेंगे।

जर्मनी का पतन

वर्सेल्स की सन्धि ने युद्ध का सारा दोष जर्मनी के माथे मढ़ दिया। उसे ही संसार के सामने अपराधी सिद्ध किया गया *। वर्सेल्स के सन्धि-पत्र की धारा २३१ में स्पष्ट शब्दों में युद्ध का उत्तरदायित्व जर्मनी पर लादने का प्रयत्न किया गया है और ग्रेट ब्रिटेन तथा मित्रराष्ट्रों को इस युद्ध में जो क्षति पहुँची है उसकी ज़िम्मेदारी भी जर्मनी पर है। जर्मनी में सन् १९१९ में वामपक्षी सरकार थी और उ[...] विश्वास था कि सन् १९१४ का जर्मन राज्य स[...] वादी और सैनिकवादी था और उसकी नीति [...] सीमा तक युद्ध के लिए उत्तरदायी थी। परन्तु है ; जहाँ ने युद्ध का सारा दोष जर्मनी पर लादकर (अर्थात् उसके साथ घोर अन्याय किया। यह सत्य है, [...] साम्राज्यवादी था और आज भी वह उग्र साम्राज्यवादी है, परंतु क्या मित्रराष्ट्र साम्राज्यवादी नहीं थे ? सन् १९१४ के विश्वयुद्ध के लिए प्रत्येक योरपियन राष्ट्र किसी-न-किसी मात्रा में उत्तरदायी था। फ्रांस के समाजवादी नेता जोरिस की हत्या की गई, तब फ्रांस में जनता ने हर्ष प्रकट किया ; क्योंकि वह युद्ध टालने में सफल हो जाता। इँगलैंड में भी [...] लोकमत था जो जर्मनी पर बिना घोषणा के युद्ध छेड़ने के लाभों का जनता में प्रचार करता था। रूस में भी उच्च राज-कर्मचारी युद्ध चाहते थे। ऐसी दशा में किसी एक राज्य को अपराधी घोषित करना सर्वथा अन्याय था। जर्मनी के साथ इस प्रकार का व्यवहार राष्ट्रपति विल्सन के उपर्युक्त सिद्धांतों के विपरीत था। इसमें 'समान न्याय' की बात कहाँ रह गई। मित्र-राष्ट्रों ने जर्मनी तथा शत्रुराष्ट्रों से ६,६००,०००,००० पौंड क्षतिपूर्ति के रूप में लेने का निश्चय किया गया। जो प्रदेश जर्मनी ने जीत लिये थे वे वापस कर दिये गये और साथ-ही-साथ ६ अरब ६० करोड़ पौंड हर्जाने के रूप में लेने का निश्चय किया गया। जर्मनी ने २,७००,०००,०००

* Article 231.—The Allied and Associated Governments affirm and Germany accepts the responsibility of Germany and her allies for causing all the loss and damage to which Allied and Associated Governments and their nationals have been subjected as a consequence of the war imposed upon them by the aggression of Germany and her allies.

—*The Treaty of Versailles.*

मित्रराष्ट्रों को क्षतिपूर्ति में दे दिया। मित्रराष्ट्रों का यह कहना है कि अभी सिर्फ़ १ अरब पौंड ही मिले हैं। सार की कोयले की खानें फ़्रांस को सौंप दी गईं। लोरेन की खानें भी फ़्रांस को दे दी गईं। जर्मनी की खानों से इतना अधिक कोयला लिया गया कि जाँच करने पर इतना उसकी खानों में मिला। यही नहीं, उसका विदेशी व्यापार दिया गया। १,६०० टन से अधिक भारी जहाज़ उससे छीन लिये गये। उसके बलों) पर भी विजयी राष्ट्रों का एकाधिपत्य हो गया। उससे सब उपनिवेश ले लिये गये। उसे अपने व्यापार तथा उद्योगों के संरक्षण के लिए समुद्री-तट के कर लगाने का भी अधिकार न रहा। जर्मनी की नदियों पर जिनमें जहाज़ चल सकते थे, अंतर्राष्ट्रीय कमीशन का नियंत्रण स्थापित हो गया। सन् १९३२ में लुसियाना-समझौते के अनुसार निश्चय किया गया कि जर्मनी से क्षतिपूर्ति अब ली जाय।

योरप का पुनर्निर्माण तथा जर्मन-साम्राज्य का सर्वनाश

राष्ट्रपति विल्सन ने अपने भाषणों में यह बतलाया कि हम संसार में प्रत्येक राष्ट्र—चाहे वह छोटा हो या बड़ा—के लिए 'स्वभाग्य-निर्णय के अधिकार' को स्वीकार करते हैं। प्रजातंत्र का मूलतत्त्व इसी में है कि प्रत्येक राष्ट्र को अपने शासन-विधान का निर्माण करने का अधिकार है। इसी सिद्धांत की आड़ लेकर मित्र-राष्ट्रों ने योरप के मानचित्र में इस प्रकार परिवर्तन किये, जिससे जर्मनी की शक्ति कम हो जाय और उसके चारों ओर छोटे-छोटे स्वतंत्र राज्यों का जाल फैल जाय। युद्ध के समय ब्रिटेन ने मित्रराष्ट्रों को विजय के बाद प्रदेश देने का वचन भी दिया था। इसी प्रकार जर्मनी ने भी अपने सहयोगी राष्ट्रों को प्रदेश देने का वचन दिया था। परंतु जर्मनी की पराजय के कारण उसका वचन पूरा न हो सका। परंतु ब्रिटेन अपने वचन का पालन करने में सफल हुआ। इँगलैंड ने टर्की के बल पर रूस को, बलगेरिया, आस्ट्रिया और हंगरी के बल पर रूमानिया को और जर्मनी, युगोस्लाविया तथा अलबानिया के बल पर इटली को प्रदेश देने की प्रतिज्ञा की। रूस में राज्य-क्रांति हो जाने के कारण साम्यवादी व्यवस्था क़ायम हो गई। इसलिए रूस को ब्रिटेन ने कुछ भी नहीं दिया। रूमानिया ने अलग से संधि की। इसलिए उसे भी कुछ न देना पड़ा। अब फ़्रांस और ब्रिटेन ही रह गये, जिन्हें योरप का बँटवारा अपने हितों के लिए करना था और इटली के साथ किये गये वादे को भी पूरा करना था। जिस समय विल्सन ने अपने युद्धकालीन भाषणों में स्वभाग्य-निर्णय के अधिकार के विषय में कहा था उस समय उनके मस्तिष्क में योरप का वह नया चित्र नहीं था जो वर्सेल्स में तैयार किया गया था। ११ फ़रवरी, १९१८ को अमेरिकन कांग्रेस के समक्ष राष्ट्रपति ने स्पष्ट शब्दों में कहा—

"अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन या प्रतिद्वन्द्वियों और विरोधी दलों के बीच समझौते के द्वारा प्रजा को एक राज्य से दूसरे राज्य की प्रभुता को न सौंप देना चाहिए। राष्ट्रीय आकांक्षाओं का आदर करना चाहिए। अब प्रजा का शासन उसकी इच्छा तथा सम्मति से होना चाहिए। 'स्वभाग्य-निर्णय' केवल मात्र कोरे शब्द नहीं हैं। यह तो कार्य का एक सिद्धांत है जिसकी अवहेलना राजनीतिज्ञ अपने को ख़तरे में डालकर ही कर सकते हैं। हम जिसके लिए उद्योग कर रहे हैं वह तो शांति है जिससे हम न्याय की रक्षा कर सकें—राज्यों में परस्पर सौदे का नहीं।"

निम्न-लिखित सिद्धांतों के अनुसार कार्य करना चाहिए—

१—"अंतिम निर्णय या समझौते का प्रत्येक भाग विशेष प्रश्न या मामले के न्याय-पक्ष पर निर्भर होना चाहिए और ऐसे ढंग से सामंजस्य हो कि उससे स्थायी रूप से शांति की स्थापना हो सके।

२—"प्रजा और प्रान्तों का एक राज्य से दूसरे राज्य की प्रभुता में चीज़ों की तरह हस्तान्तर न किया जाय; शक्ति-साम्य का खेल न खेला जाय।

३—"प्रत्येक प्रादेशिक समझौता जो इस युद्ध के

बाद किया जाय उसकी जनता के हित में उसके लाभ के लिए किया जाय; प्रतियोगी राज्यों के पारस्परिक हितों के लिए किये गये समझौते के अनुसार नहीं।

४—"समस्त निश्चित राष्ट्रीय आकांक्षाओं को पूर्ण रूप से सन्तुष्ट किया जायगा; परन्तु विरोध और शत्रुता का कोई भी तत्त्व उनमें प्रविष्ट नहीं किया जायगा, जिससे योरप और अन्त में संसार की शान्ति भंग हो जाय।"

जब योरप का पुनर्निर्माण किया गया तब इन सिद्धान्तों की पूर्ण रूप से अवहेलना की गई और देशों का निर्माण शक्ति-साम्य के सिद्धान्त के अनुसार किया गया। जर्मन-राज्य को छिन्न-भिन्न कर आस्ट्रिया, पोलैंड और ज़ेकोस्लोवाकिया नये राज्य स्थापित किये गये। इन राज्यों में जर्मन जनता की बहुलता वास्तव में आगे चलकर योरप की शान्ति के लिए दुःखदायी सिद्ध हुई। अपने हितों को दृष्टि में रखकर मित्रराष्ट्रों ने जर्मनी की जनता और प्रदेश दूसरे छोटे-छोटे राज्यों में मिला दिये।

मध्य और पूर्वी योरप के राज्यों का निर्माण किसी सिद्धान्त के आधार पर नहीं किया गया। यदि कोई सिद्धान्त इसके पीछे काम कर रहा है, और यदि उसे सिद्धान्त नाम देने की धृष्टता की जा सकती है तो वह है जर्मन-राष्ट्र को ऐसी स्थिति में डाल देना कि वह फिर युद्ध करने के लिए तैयार न हो सके। इस सन्धि के फलस्वरूप अनेक नये राज्य बनाये गये और विशेषता यह कि इनमें रहनेवाली जनता एक राष्ट्र या जाति (race or nationality) की नहीं है। तीन करोड़ से अधिक अल्पमत के सदस्य इन नव-निर्मित राज्यों में बसे हुए हैं। अनेक राज्यों में अल्पमत कुल आबादी का एक-चौथाई भाग है और कुछ राज्यों में तो इससे भी अधिक है। अल्पमत में सबसे अधिक धनी जनता है। राष्ट्रीय भावना इतनी उग्रतम हो गई थी कि अल्पमत का यह सोचना कि उसकी मुक्ति अपने राष्ट्रीय राज्य में शामिल हो जाने में है—अस्वाभाविक नहीं था। और राज्य भी यह सोचने लगे कि जिन प्रदेशों में उनके नागरिक अल्पमत में रहते हैं उन्हें अपने में शामिल कर लेना उचित है। प्रोफ़ेसर गिल्बर्ट मरे का यह कथन ठीक ही है कि "वास्तव इस प्रकार का दावा राष्ट्रीय मुक्ति के समस्त युद्धों का आधार रहा है, जिनके कारण ही सन् १९१९ में नई प्रादेशिक सीमाएँ निर्धारित की गईं।" परन्तु यह दुर्भाग्य है कि इन सीमाओं का निर्धारण नये युद्ध को जन्म देने के लिए ही किया गया, जो योरप में अपना ताण्डव-नृत्य कर रहा है। [illegible] जर्मनी का युद्ध इसी प्रश्न को लेकर शुरू है; जहाँ पोलैंड में जर्मन नागरिकों पर भीषण अत्य(अर्थात् जा रहे थे। जर्मन नागरिकों की स्वतन्त्रता [illegible] के नाम ही से तो जर्मनी ने वर्तमान युद्ध का श्रीगणेश किया।

जर्मन-साम्राज्य

जर्मनी के आफ्रिका में जर्मन-दक्षिण-पश्चिम तथा टेंगानिया में उपनिवेश थे। आस्ट्रेलिया के नि[illegible] जर्मन न्यू गाइनिया में एक जर्मन उपनिवेश था [illegible] प्रशान्त महासागर में तीन द्वीपों में जर्मन उपनि[illegible] थे। जर्मन पूर्वी आफ्रिका और केमासन में आदि-निवासी रहते थे। ये भी जर्मन साम्राज्य के अन्तर्गत थे। शान्ति-सन्धि में इन उपनिवेशों को मित्र-राष्ट्रों ने अपने अधीन रखने की व्यवस्था की। उन्होंने विश्व-युद्ध में इन उपनिवेशों को जर्मनी से जीता था। अतः विजित प्रदेशों पर उन्होंने अपना ही नियंत्रण रखने का प्रयत्न किया। इन प्रदेशों को बाद में राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत शासनादेश (Mandates) के रूप में परि-वर्तित कर दिया गया। इस प्रकार जर्मनी अपने उप-निवेशों से सदैव के लिए वंचित कर दिया गया।

निःशस्त्रीकरण और राष्ट्रसमाज से जर्मनी का बहिष्कार

निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में यह निश्चय किया गया कि पहले पराजित राष्ट्रों में निःशस्त्रीकरण किया जाय और इसके बाद दूसरे राष्ट्र भी अपना शस्त्री-करण कम करने का प्रयत्न करें। फलतः जर्मनी ने शस्त्रीकरण को कम से कम कर दिया। परन्तु इसका पालन दूसरे राष्ट्रों ने नहीं किया।

शान्ति-सन्धि की एक शर्त के अनुसार राष्ट्रसंघ

eague of Nations) की स्थापना की गई ; न्तु जर्मनी, आस्ट्रिया, हंगरी और बलगेरिया को सकी सहायता के अधिकार से वंचित रक्खा गया। राष्ट्रपति विल्सन ने अपने १४ वें सिद्धान्त में स्वतंत्र के संघ के लिए व्यवस्था की थी, परन्तु इन उसमें स्थान न देकर राष्ट्रसंघ के प्रति इनमें र उपेक्षा के भाव पैदा कर दिये। बाद में राष्ट्रसंघ की सहायता से अलग रक्खा। बाद इन देशों को राष्ट्रसंघ में शामिल । परन्तु उस समय तक योरप में घोर अशान्ति और असन्तोष की लहर फैल चुकी थी।

सोवियट रूस के साथ व्यवहार

राष्ट्रपति विल्सन के ६ वें सिद्धान्त में स्पष्ट रूप से यह लिखा है कि रूस का स्वाधीन राष्ट्रों के समाज में 'भलाई से स्वागत' किया जायगा। परन्तु स्वागत के में समस्त पूँजीवादी राष्ट्रों ने रूस से शत्रुता की उसे योरपियन राष्ट्र- माज और अन्तर्राष्ट्रीय राज-ति में 'अछूत' माना गया। यह विल्सन के सिद्धांत के सर्वथा विपरीत तथा अन्तर्राष्ट्रीयता के ख़िलाफ़ था।

विश्वव्यवस्था राष्ट्रसंघ

वर्सेल्स की संधि का एक महत्त्वपूर्ण भाग वह है जिसमें विश्व की शान्ति और सुरक्षा के निमित्त अन्तर्राष्ट्रीय राष्ट्र-संघ की स्थापना का विधान है। सन् १९२० में राष्ट्रसंघ की नियमपूर्वक स्थापना की गई, और इसका अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र स्विट्ज़रलैंड के प्रसिद्ध नगर जिनेवा में बनाया गया। जिन राष्ट्रपति विल्सन की प्रेरणा से राष्ट्रसंघ का निर्माण हुआ उनके ही राज्य—संयुक्त राज्य अमेरिका—की सीनेट ने वर्सेल्स की सन्धि और राष्ट्रसंघ के विधान को अस्वीकार कर दिया और राष्ट्रसंघ आज पर्यन्त संयुक्त राज्य अमेरिका-जैसे महान् प्रभावशाली राष्ट्र की सदस्यता तथा नेतृत्व से वंचित रहा।

जब राष्ट्रसंघ की स्थापना हुई तब संसार के राष्ट्रों ने यह समझा कि अब संसार से युद्धों का नाश हो जायगा और एक नवयुग का आरम्भ हो जायगा, परन्तु उसके कार्य, नीति तथा कार्यक्रम ने यह धारणा ग़लत सिद्ध कर दी। राष्ट्रसंघ योरप में ग्रेट ब्रिटेन के नेतृत्व में कार्य करता रहा और उसे उसमें फ़्रान्स का सहयोग मिला। इन दोनों राष्ट्रों ने उसे अपनी स्वार्थसिद्धि का एक साधन—एक प्रभावकारी अस्त्र बना लिया। जिस राष्ट्रसंघ का लक्ष्य संसार में शान्ति की स्थापना था, जिसका उद्देश्य युद्धों का निष्कासन था, उसने अपने जन्म-काल से अपनी पूरी शक्ति और अपने पूरे प्रभाव का प्रयोग साम्राज्यवाद को सुदृढ़ बनाने तथा सोवियट रूसविरोधी गुट्ट को शक्तिशाली बनाने में किया।

राष्ट्रसंघ की साम्राज्यवादी नीति

राष्ट्रसंघ की साम्राज्यवादी नीति का सबसे बड़ा प्रमाण उसके सदस्यों द्वारा सोवियट रूस के प्रति व्यवहार से मिलता है। साम्यवाद-विरोध राष्ट्रसंघ की नीति की धुरी है। इस महायुद्ध—वर्त्तमान योरपियन महायुद्ध—के आरम्भ तक उसकी नीति और कार्य-कलाप से यही स्पष्टतः प्रकट होता है कि राष्ट्रसंघ की स्थापना साम्राज्यवादी हितों को सुरक्षित रखने के उद्देश्य से की गई थी और राष्ट्रसंघ के कर्णधारों ने यह स्पष्टरूप से देखा कि सोवियट रूस साम्राज्यविरोधी है, इसलिए ऐसा प्रयत्न करना चाहिए जिससे संसार में साम्यवाद की शक्ति अधिक न बढ़ जाय वरना सोवियट रूस संसार की सबसे महान् शक्ति हो जायगी। विश्व-युद्ध (१९१४–१८) के बाद योरप में तीन नई शक्तियों का उदय हुआ—सोवियट रूस, नाज़ी जर्मनी और फ़ासिस्ट इटली। ये तीनों राष्ट्र शान्ति-सन्धि के बाद से ही अपनी-अपनी राष्ट्रीय उन्नति करने में लग गये। विजेता राष्ट्र ग्रेट ब्रिटेन और फ़्रान्स ही दो बड़े राष्ट्र रह गये जो राष्ट्रसंघ का संचालन कर संसार में अपनी धाक जमाने तथा शान्ति के अग्रदूत बनकर विश्व-विख्याति प्राप्त करने में जुट गये।

योरप में छोटे-छोटे राष्ट्रों में परस्पर जो ऐसे संघर्ष और युद्ध हुए जिनमें राष्ट्रसंघ के कर्णधार ब्रिटेन और फ़्रांस के कोई हित ख़तरे में नहीं पड़े, उनमें राष्ट्रसंघ ने हस्तक्षेप किया और शांतिपूर्वक निपटारा कर दिया। उदाहरण के लिए सन् १९२१ में स्वीडन

और फ़िनलैंड में आलैंड द्वीप-समूह के प्रश्न पर बड़ा भयंकर झगड़ा शुरू हो गया। राष्ट्रसंघ ने इनमें परस्पर समझौता करा दिया। सन् १९२१ में सर्विया ने अलबानिया पर आक्रमण किया। राष्ट्रसंघ ने सर्विया को यह चेतावनी दी कि यदि आक्रमण न रोका गया तो राष्ट्रसंघ सर्विया के ख़िलाफ़ कार्रवाई करेगा। फ़ौजें वापस कर ली गईं। सन् १९२१ में जर्मनी और पोलैंड के बीच अपर सिलेशियन फ़्रान्टियर के झगड़े को राष्ट्रसंघ ने तय किया। सन् १९२३ में इटली के अफ़सर का यूनान में वध कर दिया गया। इस कारण इटली ने यूनान पर बमवर्षा की और यूनान के कोर्फ़ू द्वीप पर आधिपत्य प्राप्त कर लिया। बाद में राष्ट्रसंघ ने समझौता करा दिया और कोर्फ़ू यूनान को वापस मिल गया। मेमल प्रदेश के संबंध में (जो पहले पूर्वी प्रशा का भाग था) मेमल की जर्मन जनता तथा उसकी लिथुआनियन सरकार के बीच सन् १९३२ में झगड़ा हो गया। इनका निर्णय विश्व-स्थायी न्यायालय द्वारा हो गया। सन् १९२४ में टर्की और ईराक़ की ओर से ग्रेट ब्रिटेन के मध्य मोसल के प्रश्न पर विवाद हो गया। राष्ट्रसंघ ने इन दोनों में समझौता करा दिया। सन् १९२५ में यूनान ने बलगेरिया पर आक्रमण कर दिया। राष्ट्रसंघ ने तुरंत ही शांति स्थापित कर दी। सन् १९२८ में चेको प्रदेश के प्रश्न पर बोलीविया और पैरागुए में संघर्ष हो गया। राष्ट्रसंघ के प्रभाव से यह संघर्ष तुरंत ही तय हो गया। सन् १९३३ में राष्ट्रसंघ ने पेरू और कोलम्बिया के युद्ध को शांत किया। सन् १९३३ में ब्रिटेन और फ़ारस में फ़ारस के तेल की सुविधाओं के संबंध में विवाद हो गया। राष्ट्रसंघ ने इन दोनों में समझौता कराया।

उपर्युक्त मामलों में राष्ट्रसंघ को शांति-स्थापना में सफलता मिली; क्योंकि सभी विग्रही राष्ट्र छोटे-छोटे थे और उपर्युक्त विवादों या संघर्षों में कोई महान् साम्राज्यवादी हित नहीं उलझे थे। परंतु जिन-जिन संघर्षों में महान् राष्ट्रों का कोई हित संघटित था उनमें राष्ट्रसंघ सर्वथा नपुंसक सिद्ध हुआ। यही नहीं, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से बड़े-बड़े सदस्य राष्ट्रों ने विग्रही पक्षों को उत्साह प्रदान किया और सहायता भी [illegible]

पोलैंड और रूस के युद्ध को रोकने में राष्ट्रसंघ [illegible] शक्ति का प्रयोग नहीं किया गया। यूनान और तुर्क[illegible] के युद्ध को भी राष्ट्रसंघ नहीं रोक सका। परंतु सबसे महत्त्वपूर्ण है सन् १९३१ में जापान का च[illegible] मंचूरिया और जेहोल प्रांतों पर आक्रमण। १०[illegible] सन् १९३१ ई० को राष्ट्रसंघ ने चीन और ज[illegible]०॥ इस आशय की प्रतिज्ञाएँ ले लीं कि जाप[illegible]हे; जहाँ सेनाएँ वापस लौटा लेगा। [illegible] (अर्थात्

परंतु जब जापान ने राष्ट्रसंघ की अक[illegible] देखा तो उसे पूर्ण विश्वास हो गया कि योरप का यह नपुंसक संघ जापान के साम्राज्यवाद में बाधक सिद्ध नहीं होगा। यह सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं कि राष्ट्रसंघ अपने जन्म-काल से ब्रिटेन के नेतृत्व में कार्य कर रहा है; उसकी नीतियों के निर्माण में और उनके कार्यान्वित करने में ब्रिटेन का पूरा [illegible] रहा है। ऐसी स्थिति में होते हुए भी ब्रि[illegible] राजनीतिज्ञों ने और अँगरेज़ी सरकार ने चीन-जाप[illegible] संघर्ष के संबंध में एक महान् भूल की।

"प्रत्येक योग्य विद्वान् अब इससे सहमत है कि यदि जापान ने मंचूरिया से अपनी फ़ौजें हटाने के लिए तत्परता नहीं दिखलाई थी तो राष्ट्रसंघ के सदस्य राष्ट्रों को जापान की राजधानी—टोकियो—से अपने राजदूतों तथा मंत्रियों को वापस बुला लेना चाहिए था। ऐसा किया जाता तो जापान की सरकार सैनिकवादियों को दबाने में सफल हो जाती। यदि जापानी सैनिकवादियों को यह विश्वास हो जाता कि उन्हें युद्ध-सामग्री, कच्चा माल तथा तेल-पेट्रोल बाहर से नहीं मिलेंगे, तो निश्चयपूर्वक वे युद्ध नहीं छेड़ते। यदि जापानी आयात को विदेशी बाज़ारों में न मँगाया जाता, तो जापानी येन (सिक्का) इतनी जल्दी गिर जाता कि आर्थिक कारणों से ही जापानी संघर्ष का शीघ्र अंत हो जाता। किसी भी समय इस संबंध में कोई शंका नहीं की गई कि ग्रेट ब्रिटेन ने इन कामों में से किसी एक को हाथ में लेकर संसार का नेतृत्व किया होता तो संसार उसका अनुसरण करता।
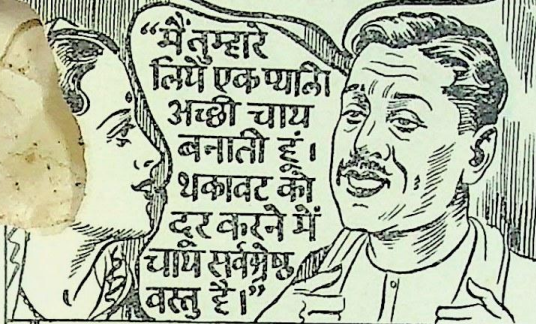
Lipton's

लिपटन की हिमालयन ब्लेण्ड

शुद्ध दार्जिलिंग **चाय**

LTK 42

"संक्षेप में जापानी युद्ध को रोकने में राष्ट्रसंघ की विफलता और चीन में आक्रमण, अन्तर्प्रायद्वीप में वर्तमान स्थिति में शांतिस्थापन की कठिनाइयों को बतलाते हैं। एक कठिनाई यह है कि राष्ट्रसंघ, ...का प्रभावकारी कार्य योरप के बड़े राज्यों पर ... है, को सुदूर एशिया में ऐसे कार्य करने पड़ते ...के मामले लंदन और पेरिस की जनता के ... दूर की बातें लगती हैं। दूसरी कठिनाई ... एशियायी राज्य, चीन की भाँति, राष्ट्रसंघ ... प्रभावशाली सदस्य नहीं हैं जितने कि योरप के कमज़ोर राष्ट्र बेलजियम और यूगोस्लाविया हैं। अंत में तीसरी कठिनाई यह है कि वह योरपियन राष्ट्र, जिन्हें एशिया में शांति-स्थापन के लिए प्रयत्न करना चाहिए, अपने साम्राज्यवादी संघर्षों और उलझनों में फँसे रहने के कारण; वह ऐसा नहीं कर सकते।" *

सत्य तो यह है कि ब्रिटेन चीन की रक्षा के लिए प्रयत्न इसलिए नहीं करना चाहता था कि ऐसा करने से जापान, जो साम्राज्यवादी राष्ट्र है और जो साम्यवाद ...रोधी है, अशक्त हो जायगा और जापान की ... एशिया में रूस के लिए एक प्रशस्त मार्ग ...र देगी। यही कारण है कि योरप के बहुतेरे ...ों ने जापान के साथ सहानुभूति प्रकट की।

...१६३५ में योरप में ही राष्ट्रसंघ की अग्नि-परीक्षा का अवसर आया। इटली की शक्ति अब तक ...बढ़ चुकी थी और इसमें साम्राज्यवादी राष्ट्रों का ...मालो...उसे प्राप्त था। अब वह वर्सेल्स की सन्धि ...बः नैराश्य का नाश कर रोम-साम्राज्य का स्वप्न ...लगा। जापान-चीन-संघर्ष में राष्ट्रसंघ की शक्ति-...ता का उसे पहले से परिचय मिल चुका था। इसलिए उसने आफ्रिका के एकमात्र स्वाधीन राज्य—अबीसीनिया—पर आक्रमण कर दिया। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि इटली और अबीसीनिया दोनों ही राष्ट्रसंघ के सदस्य थे। इसलिए वह राष्ट्रसंघ के विधान से प्रतिज्ञाबद्ध थे और संघ का भी उन पर प्रभाव था। परन्तु इस बार भी राष्ट्रसंघ ने इटली के विरुद्ध कोई प्रभावकारी कार्य नहीं किया और अबीसीनिया की स्वाधीनता के दमन को शान्तिपूर्वक देखता रहा।

स्पेन में गृहयुद्ध

सन् १६३६ में स्पेन में प्रजातंत्रवादी-दल (Republican Party) की चुनावों में विजय हुई। फलतः इस दल की सरकार स्थापित हुई। इस दल में किसान, मज़दूर आदि थे। इसलिए स्वभावतः ज़मींदार, पूँजीपति तथा सैनिक वर्गों को इससे असन्तोष हुआ। १६ जुलाई, १६३६ को यह प्रकट हो गया कि प्रजातंत्रवादी सरकार के पलटने के लिए भारी षड्यंत्र रचा गया है। १८ जुलाई को मोरक्को में सेनाओं ने विद्रोह किया और यह विद्रोह समस्त देश में व्याप्त हो गया। १६ जुलाई को विद्रोहियों के नेता जनरल फ्रांको ने स्पेनिश मोरक्को पर अपना आधिपत्य जमा लिया। २२ जुलाई को पैम्पलोना में विद्रोहियों ने अपनी नवीन सरकार स्थापित कर ली।

स्पेन में प्रायः तीन वर्ष तक भयंकर संघर्ष चलता रहा जिसमें अरबों की सम्पत्ति स्वाहा हो गई। हज़ारों की संख्या में नर-नारियों का नरमेध हुआ।

स्पेन के इस युद्ध में योरप ही नहीं, संसार के सभी राष्ट्र फँसे हुए हैं। इँगलैंड प्रजातंत्रवादी सरकार की विजय चाहता था। इसका कारण यह है कि इटली तथा जर्मनी जनरल फ्रांको तथा विद्रोहियों को हर प्रकार से मदद दे रहे थे। ये दोनों राष्ट्र स्पेन को नाज़ीवाद का एक गढ़ बना देना चाहते थे। सोवियट रूस प्रजातंत्रवादी सरकार की सहायता कर रहा था। फ्रांस की सहानुभूति भी सरकार के साथ रही। ६ सितम्बर, सन् १६३६ को लन्दन में हस्तक्षेप-विरोधी कमेटी (Non-Intervention) बनाई गई जिसके फलस्वरूप इन राष्ट्रों ने यह निश्चय किया कि बाहर के देशों को स्पेन के गृहयुद्ध में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। परन्तु इस निश्चय

* Charles Roden Buxton:—Intercontinental Peace ("The Intelligent Man's Way to Prevent War", edited by Leonard Woolf.)

का देशों ने पालन नहीं किया और जर्मनी, इटली तथा रूस बराबर स्पेन में मदद देते रहे। इस प्रकार खुले रूप में यद्यपि सहायता देना बन्द हो गया तथापि गुप्तरूप से सहायता मिलती ही रही।

परन्तु इस निर्णय से स्पेन की प्रजातंत्रवादी सरकार को बड़ी हानि पहुँची; क्योंकि इँगलैंड तथा फ़्रान्स ने प्रजातंत्रवादी सरकार की मदद करना बन्द कर दिया। परन्तु दूसरी ओर जर्मनी और इटली बराबर मदद करते रहे। इस प्रकार ब्रिटेन की इस नीति के परिणामस्वरूप जनरल फ़्रांको की विजय हुई। यह वास्तव में योरप में जर्मनी की पहली विजय थी। तब से स्पेन जर्मनी का सैनिक केन्द्र बन गया है।

आस्ट्रिया पर आक्रमण

जनवरी सन् १९३४ में हर हिटलर जर्मनी का चान्सलर—प्रधान शासक— हो गया। इसी वर्ष एक नवीन सेना तैयार की गई। सन् १९३५ में वर्सेल्स की संधि की पहली शर्त का भंग जर्मनी में अनिवार्य सैनिक 'सर्विस' जारी करके की गई। सन् १९३६ में राहिनलैंड पर पुनः आधिपत्य जमाकर उपर्युक्त सन्धि का उल्लंघन किया गया। सार प्रदेश पर भी अधिकार जमा लिया गया।

मार्च सन् १९३८ में जब फ़्रान्स के मंत्रि-मण्डल ने त्याग-पत्र दिया तब वहाँ वैधानिक संकट पैदा हो गया। इस स्थिति से हिटलर ने लाभ उठाया। ११ व १२ मार्च, १९३८ को जर्मन सेनाओं ने आस्ट्रिया पर आक्रमण कर दिया। आस्ट्रिया की सरकार के सब सदस्य भाग गये और इस प्रकार बिना किसी संघर्ष के हिटलर ने आस्ट्रिया को अपने राज्य में मिला लिया। इस समय इँगलैंड और फ़्रान्स चुप रहे और राष्ट्रसंघ भी सोता ही रहा।

ज़ेकोस्लोवाकिया का अन्त और म्यूनिच-समझौता

आस्ट्रिया के अपहरण से ज़ेकोस्लोवाकिया में सुडेटन प्रान्तों में रहनेवाले जर्मन नागरिकों में भी नाज़ीवाद का प्रचार अपना प्रभाव दिखलाने लगा। शान्ति-सन्धि के समय आस्ट्रो-हंगरी साम्राज्य को छिन्न-भिन्न करके इस नये देश का निर्माण किया गया था। देश के निर्माण में एक रहस्य था और वह यह [illegible] जर्मनी की सीमा पर एक सुव्यवस्थित प्रजातन्त्र [illegible] हो जाय जो जर्मनी के प्रभाव को योरप में सुदूर [illegible] की ओर बढ़ने से रोक सके। बिस्मार्क का कह[illegible] कि "जो बोहेमिया का स्वामी है, वही सम[illegible] का स्वामी है।" वास्तव में एक सशस्त्र औ[illegible]; जहाँ राज्य बोहेमिया नाज़ी प्रगति के लिए बा[illegible] (अर्थात् [illegible]) रहा था। इसलिए जब तक ज़ेकोस्लोवाकि[illegible] ज्यों की त्यों क़ायम रहेगी और जब तक उ[illegible] इँगलैंड तथा रूस से मेल क़ायम रहेगा तब तक नाज़ी जर्मनी के लिए पूर्व की ओर से ख़तरा बना ही रहेगा। नाज़ी जर्मनी को पूर्व की इस स्थिति से इतना ख़तरा था कि वह पश्चिमी प्रजातंत्रवादी राज्यों के विरुद्ध कोई कार्रवाई करने में अपने को अशक्त पाता था। छोटे राज्य—ज़ेकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया और रूमानिया (अपनी ५ करोड़ की जन-संख्या और शांतिकाल की ६० डिवीज़न की सेना के साथ तथा बालकन राज्य—रूमानिया, ग्रीस, टर्की आदि) ८ करोड़ की जन-संख्या तथा शांतिकालीन ८० [illegible] की सेनाओं के साथ नाज़ी आक्रमण के लि[illegible] बलशाली थे। ज़ेकोस्लोवाकिया के चारों [illegible] पर्वत हैं जो अजेय हैं। ज़ेक सेना [illegible] सुसज्जित और विशाल थी। ज़ेक हवाई [illegible] शक्तिशाली था और वहाँ से जर्मनी के [illegible] नगरों पर बमवर्षा करना इतना आसान था [illegible] जर्मनी का ज़ेकोस्लोवाकिया के विरुद्ध आ[illegible] बड़ी टेढ़ी खीर थी।

अतः हिटलर ने ज़ेकोस्लोवाकिया के सुडे[illegible] में रहनेवाले जर्मन नागरिकों पर ज़ेक सरका[illegible] होनेवाले तथाकथित अत्याचारों के प्रश्न को लेकर यह माँग पेश की कि सुडेटन प्रान्तों को स्वाधीनता दे दी जाय। इस प्रश्न पर म्यूनिच में समझौता हुआ जिसमें इँगलैंड, फ़्रांस, इटली और जर्मनी के प्रधान मन्त्री सम्मिलित हुए और म्यूनिच में यह निर्णय किया गया कि सुडेटन प्रान्तों को स्वाधीनता दे दी जायगी।

म्यूनिच-पेक्ट के समय समस्त योरप का वातावरण [illegible]ड़ा उत्तेजित था। प्रत्येक राज्य की सेनाओं ने तैयारियाँ शुरू कर दीं और सेनाएँ केवल आज्ञा की प्रतीक्षा में थीं। परन्तु इँगलैंड के प्रधान-मन्त्री श्रीनेविल [illegible]लेन युद्ध को टालना चाहते थे। इसलिए उन्होंने [illegible] के सामने आत्मसमर्पण कर दिया। इस [illegible]ँगलैंड और फ्रांस ने मिलकर जिस शिशु को [illegible] में जन्म दिया, उसका सन् १९३९ में, [illegible] वर्ष का था, अपने ही हाथों वध कर दिया। [illegible] बाद इटली ने अपने पड़ोसी राज्य अल-बानिया को धमकी देकर अपने अधीन कर लिया।

पोलैंड का बलिदान

पोलैंड योरप का एक प्राचीन राष्ट्र है। विश्व-युद्ध के बाद पोलैंड का पुनर्निर्माण किया गया। रूस और जर्मनी का कुछ भाग उसमें मिला दिया गया। इस प्रकार नये पोलिश राज्य की स्थापना की गई। पोलैंड में ३०% अल्पसंख्यक जातियाँ हैं। १४% रूथेनियन और यूक्रेरियन और ४% श्वेत रूसी और पश्चिमी [illegible] में ४% जर्मन और ८% यहूदी हैं। पोलैंड में [illegible]१८ से अल्पमतों के साथ पोलिश राज्य के [illegible]र के कारण असन्तोष रहा है; क्योंकि पोल [illegible] हैं और वह समस्त राष्ट्र को पोलिश सभ्यता [illegible]ति द्वारा संगठित करना चाहते हैं। अतः [illegible]ी जातियाँ पोलिश सरकार की इस नीति [illegible] असन्तोष प्रकट करती रही हैं। *

[illegible]छले [illegible]-युद्ध से पूर्व डेन्जिग से पूर्वी प्रशा तक जर्मनी [illegible] राज्य था। परन्तु वर्सेलस की सन्धि द्वारा [illegible] ने पूर्वी प्रशा को जर्मनी से अलग कर [illegible] इन दोनों के मध्य में पोलिश कोरीडर और [illegible]ग नगर है। डेन्जिग एक बड़ा व्यापारिक नगर है और बन्दरगाह भी है। इसमें जर्मनों की जन-संख्या सबसे अधिक है। पोलैण्ड के लिए समुद्र तक पहुँचने का यही एक मार्ग था। फेडरिक महान् ने यह सत्य कहा है कि "जिसके आधिपत्य में विस्टूला का मुहाना और डेन्जिग है वही वारसा में राजा की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली है।" इसके अतिरिक्त अपर सिले-सिया औद्योगिक दृष्टि से बड़ा उपयोगी है। इसका विकास पोल और जर्मन दोनों ने मिलकर किया। परन्तु इसके बटवारे का जब प्रश्न उपस्थित हुआ तब मित्रराष्ट्रों ने जनमत के आधार पर अपर सिलेसिया के भाग्य का निर्णय करने का प्रयत्न किया। जनमत-गणना (Plebiscite) द्वारा बहुमत जर्मनी के साथ मिलने के पक्ष में था। अतः यह प्रश्न राष्ट्रसंघ को सौंप दिया; क्योंकि मित्रराष्ट्र जर्मनी को यह प्रदेश देना नहीं चाहते थे। जब राष्ट्रसंघ की ओर से इसके भाग्य के निर्णय का प्रयत्न किया जा रहा था, इस प्रदेश की ६७ कोयले की खानों में से ५३ पर पोलैण्ड ने आधिपत्य जमा लिया।

दूसरा प्रश्न था, पोलैण्ड को समुद्र का रास्ता देना। इसके लिए जर्मन प्रशा को जर्मन राज्य से अलग करना पड़ा। उनके मध्य में एक पट्टी क़ायम की गई जो पोलिश कोरीडर कहलाती है। इस कोरी-डर में पोलिश सरकार ने रेलवे बनाई है जो डेन्जिग तक जाती है। पूर्वी प्रशा (जर्मनी) को जर्मनी में जाने के लिए इस कोरीडर को पार करना पड़ता है। इस पृथक्करण से यातायात में बड़ी बाधाएँ पैदा हुईं। डेन्जिग नगर को न पोलैण्ड में मिलाया गया और न उसे जर्मनी को ही दिया गया। इसको राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत डेन्जिग का स्वतंत्र नगर बना दिया गया और इसका प्रबन्ध एक अन्तर्राष्ट्रीय कमीशन को सौंपा गया जिसमें जर्मनी और पोलैण्ड के प्रतिनिधि शामिल किये गये। जब डेन्जिग जर्मनी को नहीं दिया गया तो जर्मनी ने बाल्टिक तट पर उसके समीप ही गिडीनिया नामक एक नया बन्दरगाह बनाया।

प्रसिद्ध अँगरेज़ राजनीतिज्ञ श्रीकोल ने अपनी पुस्तक में, जो सन् १९३३ में प्रकाशित हुई, यह स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि—

"अपर सिलेसिया और पोलिश कोरीडर इन दो समस्याओं के साथ डेन्जिग की समस्या जर्मनी और पोलैण्ड के मध्य शान्तिपूर्ण और सुरक्षित संबन्धों की स्थापना के लिए घातक बाधाएँ हैं—यह और भी

* G. D. H. Cole: "The Intelligent Man's Review of Europe To-day." (1933)

अधिक इसलिए है कि जर्मनी में हिंसात्मक राष्ट्रीयता का प्राधान्य है।'' *

जब से जर्मनी में हर हिटलर का शासन शुरू हुआ है तब से वह अपने खोये हुए प्रदेशों को पुनः प्राप्त करने के प्रयत्न में लीन है। उसने अनेक प्रदेशों तथा स्वाधीन राज्यों को केवल धमकी देकर ही अपने अधिकार में कर लिया। अब ज़ेकोस्लोवाकिया के बाद पोलैण्ड पर उसने अपनी दृष्टि डाली। हर हिटलर ने पोलिश सरकार के सामने ये प्रस्ताव प्रस्तुत किये—

१. डेन्जिग स्वतंत्र राज्य को जर्मनी के अन्तर्गत कर दिया जाय।

२. जर्मनी को कोरीडर में अपनी रेलवे लाइन बनाने की सुविधा हो और उस पर पोलैण्ड के समान ही जर्मनी का भी अधिकार हो।

इन सुविधाओं के बदले में जर्मनी पोलैण्ड के लिए निम्न-लिखित अधिकार देने के लिए तैयार है—

१. वह डेन्जिग में समस्त पोलिश आर्थिक अधिकारों को स्वीकार कर लेगी।

२. वह डेन्जिग में पोलैण्ड के लिए एक स्वतंत्र बन्दरगाह बनाने का अधिकार दे देगी।

३. वह जर्मनी और पोलैंड के बीच वर्त्तमान सीमाओं को ही अन्तिम सीमाएँ मानने के लिए तैयार है।

४. पोलैण्ड के साथ २५ साल के लिए अनाक्रमक सन्धि कर ली जायगी।

पोलैण्ड की सरकार ने हिटलर के उपर्युक्त प्रस्तावों को मंज़ूर नहीं किया। पोलैण्ड की सरकार ने कहा—

१. डेन्जिग में राष्ट्रसंघ के कमिश्नर के स्थान में कोई दूसरे प्रबंध के प्रश्न पर समझौता करने के लिए वार्ता शुरू करने के लिए तैयार हैं।

२. कोरीडर के मध्य में होकर आपको याता[illegible]। की सुविधाएँ देने के प्रश्न पर विचार किया जायगा।

इसके बाद स्थिति दिन-पर-दिन ख़राब होती गई। अगस्त १६३६ के अन्तिम सप्ताह में ब्रिटेन और जर्मनी में पोलैंड से समझौता कराने के लिए पत्र-[illegible] क[illegible] हुआ। जर्मनी पोलैंड से समझौता करने [illegible] सम[illegible] तैयार हो गया। परन्तु चांसलर हिटलर [illegible] औ[illegible] २६ अगस्त, १६३६ के पत्र में, जो ब्रिटेन [illegible] मन्त्री सर नेविल चेम्बरलेन को लिखा था [illegible] यह शब्द लिखे—

"इन परिस्थितियों में जर्मन सरकार ब्रिटिश सरकार के प्रस्ताव से सहमत है कि बर्लिन में पोलिश राजदूत को पूरे अधिकार देकर आमन्त्रित किया जाय। वह ३० अगस्त को बर्लिन में आ जायगा, ऐसा विश्वास किया जाता है। जर्मन सरकार शीघ्र ही प्रस्ताव तैयार करेगी जो दोनों को स्वीकार्य होंगे और यदि सम्भव हुआ तो पोलिश प्रतिनिधि के आगमन से पूर्व वह उन्हें ब्रिटिश सरकार के पास भेज देगी।"

ब्रिटिश सरकार की ओर से यह उत्तर दिया गया कि जर्मन सरकार अपने प्रस्ताव पोलिश स[illegible] पास भेज दे। यह उचित है। पूरे अधिकार लि[illegible] पोलिश प्रतिनिधि का बर्लिन में बुलाना [illegible] है। बस, इसी स्थिति में संकट पैदा हो गा[illegible] और जर्मनी में सैन्य-संचालन आरम्भ हो [illegible] सेनाएँ आक्रमणों के लिए तैयार हो गई [illegible] के प्रश्न पर फिर योरप में सबसे भयंकर [illegible] आरम्भ हो गया। आज सारा संसार [illegible] कम्पायमान है। संसार की अशांति और [illegible] आज चरम सीमा को पार कर चुका है। यह [illegible] की स्थिति।

* G. D. H. Cole: "Review of Europe To-day."

श्रीरामकृष्णवचनामृत

श्रीसोमेश्वरदत्त वाजपेयी एम्० ए०

[illegible]ान् श्रीरामकृष्ण परमहंस अपने अपूर्व [illegible]रित्र और अलौकिक साधना से सारे संसार [illegible] मनीषी विद्वान् रोमांरोलां-जैसे विश्व-[illegible]क का ध्यान भी उनकी ओर गया और [illegible]छ कटु-[illegible] पर बृहद् ग्रन्थ लिखा। इससे पहले संसार [illegible]मालोच[illegible] भाषाविद्, वेदों के अनुवादकर्ता मैक्समूलर [illegible]स ब[illegible] भी उनका गुणगान किया। उनके विश्व-[illegible]व्य स्वामी विवेकानन्दजी के शिकागो धर्म [illegible]भावाले व्याख्यान और अपराजिता प्रतिभा से देखते-देखते उनका माहात्म्य सारे संसार में फैल गया। विज्ञान के जड़वादप्रधान दिनों में श्रीरामकृष्ण की आध्यात्मिकता भारत के वैशिष्ट्य का ही प्रमाण नहीं, उनके शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा प्रचारित, समर्थित, सेवित तथा समुत्तोलित होकर मानवीय प्रगति का पथ हो रही है।

श्रीरामकृष्ण-मठ के साधु-संन्यासी देश की तथा विश्व की जो सेवा कर रहे हैं उसी का यह प्रमाण है कि विद्वद्वर स्वामी भास्करेश्वरानंदजी ने श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्दजी की पुस्तकों का प्रकाशन आरम्भ किया है जिसका तेरहवाँ पुष्प यह श्रीरामकृष्णवचनामृत है। यह पुस्तक कई भागों में प्रकाशित होगी, क्योंकि श्री 'म' महोदय की लिखी मूल बँगला पुस्तक श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत पाँच भागों में है। प्रस्तुत प्रथम खण्ड है। अनुवाद कविवर श्रीसूर्यकान्तजी त्रिपाठी 'निराला' का किया हुआ है। 'निराला'जी की बँगला मशहूर है। हम यहाँ इस पुस्तक के प्रकाशक स्वामीजी के शब्दों में कहते हैं—"इन ग्रन्थों के हिन्दी-अनुवाद का श्रेय हिन्दी-संसार के लब्धप्रतिष्ठ लेखक तथा सुविख्यात छायावादी कवि पं० श्रीसूर्यकान्तजी त्रिपाठी निराला को है। इस

महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए हम श्रीनिरालाजी के विशेष आभारी हैं। बँगलाभाषा का पूर्ण ज्ञान रखने के कारण श्रीनिरालाजी ने अनुवाद में केन्द्रीय भावों तथा शैली आदि को ज्यों का त्यों रक्खा है, और साथ-ही-साथ साहित्यिक दृष्टि से भी उसे बहुत ऊँचा बनाया है।" मूल पुस्तक की बँगला में वैसी ही प्रसिद्धि है जैसी किसी भी धार्मिक ग्रन्थ की। इसका अनुवाद भी कई भाषाओं में हुआ है। परमहंस श्रीरामकृष्ण-देव की संक्षिप्त जीवनी भी अनुवादित पुस्तक के साथ दी गई है। लेखक हैं पं० विद्याभास्करजी शुक्ल। पुस्तक में परमहंस श्रीरामकृष्णदेव, उनकी धर्मपत्नी श्रीशारदादेवी, दक्षिणेश्वर कालीमंदिर के साथ मनोरम गंगा-दृश्य, स्वामी विवेकानन्दजी और स्वामी शिवानन्दजी के पाँच चित्र हैं। पुस्तक की पृष्ठसंख्या पाँच सौ है। आकार सोलहपेजी। छपाई अत्युत्तम, काग़ज़ साधारण, सजिल्द।

मूलबँगला लेखक श्रीमहेन्द्रनाथ गुप्त महाशय परमहंसदेव के शिष्य थे। अँगरेज़ी के विद्वान् और एक मास्टर थे। सच्चरित्रता और मनुष्यता के कारण पश्चिमी विद्वानों में भी उनकी ख्याति है। उन विद्वानों ने भारत में आध्यात्मिकता की खोज करते हुए पदार्पण किया, मास्टर महाशय से उनके गुरु की कथा सुनी, उनसे प्रीत हुए और संस्मरण लिखा। मास्टर महाशय ने परमहंसदेव के श्रीमुख से ज्यों-ज्यों उनकी वाणी सुनी, उसे लिपिबद्ध कर लिया। मार्च सन् १८८२ ई० से रविवार ३० दिसम्बर, १८८३ ई० तक की परमहंसदेव की बातचीत है। बातचीत की भाषा सरल और बड़ी रोचकता लिये हुए है। परमहंसदेव की बातचीत का आनन्द बिलकुल मौलिक है। अन्यत्र इसकी प्राप्ति दुर्लभ है। भक्तजनों और साधक के लिए पुस्तक हमेशा साथ रखने के योग्य है। साधारण गृहस्थों के लिए यह पुस्तक सबसे अधिक अपना साथी है। पढ़ने पर अनिर्वचनाय आनन्द में क... समा... प्रकार के दुःखताप डूब जाते हैं।

सबसे बड़ी विशेषता इस पुस्तक की यह है और ... जहाँ समय के, कलकत्ते के सबसे बड़े-बड़े मनीषि ... अर्थात् हुई श्रीरामकृष्ण से भेंट की बातचीत है। श्री ... विद्यासागर, केशवचन्द्र सेन आदि के प्रसंग से मालूम हो जाता है कि भारत की आध्यात्मिकता किस उँचाई से बोलती है। अलावा इसके साधन की भिन्न-भिन्न बातें, तरह-तरह के प्राकृतिक वर्णन, श्रीरामकृष्ण के युवक भक्तों का बातचीत इसमें है। गृही भक्तों से हुई बातचीत की सरसता अतीव मनोहारिणी है। अनेकानेक मार्गों और साधनों के वर्णन मिलते हैं। ब्राह्म समाज का अच्छा परिचय है। भारत उन्नीसवीं सदी के अन्तिम भाग में देश में बहुविध उत्थान करता है। श्रीरामकृष्ण की साधना इन विषयों में विशिष्ट है। इस विशिष्टता का परिचय इस पुस्तक में ... से मिलता है। हम अन्त में प्रकाशक स्वामी ... श्वरानन्दजी से सहानुभव हैं, उन्होंने इस ... हिन्दी की एक कमी दूर की है। पुस्तक ... इसमें नहीं दिया गया। श्रीरामकृष्ण-शिवान... ग्रन्थमाला, श्रीरामकृष्ण-आश्रम, धन्तोली, ... सी० पी० को लिखने से पुस्तक मिलेगी। ह... है, हिन्दी-भाषा-भाषी इस पुस्तक का आ... आदर करेंगे।

चन्द्रापीड़ और चर्मकार

(गत अंक से आगे)

श्रीगोविंददास सेठ

पाँचवाँ दृश्य

स्थान—श्रीनगर का एक मार्ग

[illegible]मय—प्रातःकाल

[illegible]र पर वितस्ता का प्रवाह दृष्टिगोचर होता है [illegible]र्य की श्वेत किरणों में चमक रहा है। उसके [illegible]पर भिन्न-भिन्न रंगों के पुष्पों से युक्त वृक्षा- [illegible] जिससे उसके पुलिन की शोभा कई गुनी बढ़ [illegible] वितस्ता के किनारे से मार्ग सामने की ओर [illegible] मार्ग के दोनों ओर अनेक खण्डों के गृह [illegible] देते हैं। यह गुप्तकालीन शिल्पकला के [illegible] बने हैं। मार्ग में नगरवासियों की एक छोटी- [illegible]ड़ जमा है और उसमें ऊँचे स्वर से वाद-विवाद [illegible]हा है। नगरवासियों में वृद्ध, युवा, बालक सभी अवस्थाओं के व्यक्ति हैं, किन्तु हैं सब उच्च व र्णों के। सभी ऊपर के अंगों में कम्बल वस्त्र धारण किये हुए हैं जो भुजाओं के नीचे पसवाड़ों तथा कटि में बँधकर ऊपर का सारा अंग ढाँके हुए है। नीचे के शरीर में सब अधोवस्त्र पहने हैं। अधिकतर व्यक्तियों के अधोवस्त्र सूती हैं, किसी-किसी के कौशेय के भी। अधिकांश नागरिक आभूषण भी पहने हैं, किन्तु ब्राह्मण आभूषणों से रहित हैं। निराभरणता तथा भस्म के त्रिपुण्ड्र ब्राह्मणों के विशेष लक्षण हैं। समस्त नगरवासियों में सबसे अधिक ध्यान आदित्य शर्मा आकर्षित करता है। आदित्य शर्मा की अवस्था २१-२२ वर्षों से अधिक नहीं है। वह गौरवर्ण का ऊँचा पूरा, गठे हुए शरीर का सुन्दर युवक है। सिर पर लम्बे काले केश और ऊपर के ओष्ठ पर निकलती हुई रेख ने उसके सौन्दर्य को और बढ़ा दिया है। वह एक सूती उत्तरीय और अधोवस्त्र पहने है। मस्तक और बाहुओं पर भस्म के त्रिपुण्ड्र लगाये है। भूषणों से रहित होने पर भी उसका तेज अन्य व्यक्तियों की दीप्ति को म्लान कर रहा है। गृहों के झरोखों और खिड़कियों से अनेक स्त्रियाँ अपने मुख निकाल-निकाल इस भीड़ को देख रही तथा इनका संवाद सुन रही हैं।]

एक नागरिक—परन्तु अस्पृश्यों को नागरिकता के अधिकार ही नहीं हैं।

आदित्य शर्मा—यह उनके साथ सबसे बड़ा अन्याय है।

दूसरा—अन्याय ! अन्याय कैसा ? भारतीय समाज में पात्र के अनुसार अधिकार की व्यवस्था है। सवर्णों

के भी अधिकार समान नहीं, तब अस्पृश्यों को नागरिकता के अधिकार क्योंकर दिये जा सकते थे ?

तीसरा—आप सर्वथा ठीक कहते हैं। चाण्डाल, चर्मकार आदि का खान-पान देखिए, उनके कर्म देखिए, कुछ भी देखिए।

चौथा—निःसन्देह, वे मरे पशु का मांस खाते हैं, भिष्टा उठाते, चर्म निकालते, उसे कमा उसके पदत्राण बना, अपना निर्वाह करते हैं।

आदित्य शर्मा—बन्धुओ, मरे पशुओं का मांस खाने के लिए हमने उन्हें बाध्य किया है, हमने उन्हें इतना निर्धन बना दिया है कि अपनी क्षुधा तक तृप्त करने के लिए उनके पास साधन नहीं। भिष्टा उठाना कोई अपराध है ? यदि भिष्टा करना अपराध नहीं तो उठाना तो हो नहीं सकता। वे भिष्टा न उठायें तो हम एक दिन भी अपने गृहों में नहीं रह सकते। रहा चर्म निकाल उसके पदत्राण बनाना। एक दिन चलिए तो पहाड़ी प्रदेश में बिना पदत्राणों के। कंकरों और कंटकों से पुरुषों के पदों में स्वाभाविक अलका लग जायगी। हम उनसे ऐसी सेवाएँ लेते हैं, जो समाज में अन्य कोई करने को प्रस्तुत नहीं और बदले में उन्हें देते क्या हैं ? अस्पृश्यता। नागरिकता के अधिकार तक नहीं।

पाँचवाँ—तो तुम चाहते क्या हो ? अस्पृश्यों को भी समाज में समान अधिकार दे दिया जाय ?

आदित्य शर्मा—अवश्य, यदि समाज मनुष्यों का है तो उसमें प्रत्येक मानव को समान अधिकार होना ही चाहिए।

एक ब्राह्मण—(क्रोध से) हो नहीं सकता, कदापि नहीं। ब्राह्मण-क्षत्रियों के पड़ोस में चाण्डाल-चर्मकार रह नहीं सकते। रहेंगे तो हम पर उनकी छाया पड़ेगी। ब्राह्मण पर चाण्डाल या चर्मकार की छाया पड़ जाय तो बिना पवित्र हुए उसका वेदोक्त कर्म नहीं हो सकता। ब्राह्मण का भोजन चाण्डाल या चर्मकार देख ले तो वह 'अमृतोपस्तरणमसि' कह आचमन कर 'सत्यन्वरितेनपरिसिंचामि' कह भोजन के चारों ओर जल सींच उस भोजन को ग्रहण नहीं कर सकता। इन वर्णों के निकट रहने से हमारे न इहलोक के कर्म हो सकते, न हमें परलोक में स्वर्ग प्राप्त हो सकता

आदित्य शर्मा—इहलोक के कर्म करने में तो ये सारी बाधाएँ हमने बनाई हैं, रहा परलोक सो यह समझ रखिए कि ईश्वर के लिए ब्राह्मण और चाण्डाल बराबर हैं और जब तक भगवद्गीता के 'शुनिश्चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः' वाक्यानुसार [illegible] समदर्शी नहीं हो जाते, तब तक हम स्वर्ग में [illegible] न रख सकेंगे।

[illegible] जहाँ

दूसरा ब्राह्मण—(अत्यन्त क्रोध से) अरे [illegible] अर्थात् होकर तू कैसी बातें करता है ? हम अस्पृश्यों [illegible] कर लें, उनका छुआ भोजन कर लें ?

आदित्य शर्मा—जो गाय भिष्टा भी खा लेती है, उसका हम पूजन करते हैं। प्रहरी के रूप में बड़े-बड़े क्षत्रिय श्वानों को पालते हैं। चूहों को खाने के पश्चात् बिल्ली मुख मार्जन कर हमारा दूध-दही नहीं खाती। उसे भगाकर रक्खा हुआ दूध-दही, उसका उच्छिष्ट, हम खाते हैं। पर मनुष्य....मनुष्य को हमने पशुओं से निकृष्ट, ऐसे-वैसे पशुओं से नहीं, निकृष्ट से निकृष्ट पशु कुत्ते-बिल्लियों से भी निकृष्ट मान लिया है। हम यह मानते हैं कि भगवान् सर्वव्यापी [illegible] अस्पृश्यों में भी भगवान् का निवास है। इसे हम [illegible] दार्शनिक सिद्धान्तों के अनुसार अस्वीकृत नहीं [illegible] सकते। अस्पृश्यों का इस प्रकार अपमान कर ह[illegible] भगवान् का अपमान कर रहे हैं, यह न भूलन[illegible]

कुछ युवक—(एक साथ) आप सत्य... [illegible] सत्य कह रहे हैं, आदित्य शर्मा।

एक वृद्ध ब्राह्मण—(अत्यन्त क्रोध से) [illegible] युवक तो सारे समाज को रसातल को ले जाओ [illegible]

दूसरा वृद्ध ब्राह्मण—तलातल को, महातल [illegible]

आठवाँ—छोड़ो भी यह वाद-विवाद, च[illegible] राजप्रासाद को सुनना नहीं है परमभट्टारक और चर्मकार की बातें।

नवाँ—हाँ, शीघ्र न चलेंगे तो हम यहीं वाद-विवाद करते रहेंगे और परमभट्टारक तथा उसकी बात-चीत समाप्त हो चुकेगी।

तीसरा ब्राह्मण—बंधुओ, मेरी तो इच्छा ही राज-प्रासाद को चलने की नहीं होती। राजा का अस्पृश्य

.., मलना, उससे संभाषण, मैं कैसे देख सकूँगा ?

.. दसवाँ—हाँ, आज पर्यन्त तो कभी ऐसा नहीं हुआ ?

ग्यारहवाँ—पर बंधुओ, राजा उससे प्रासाद के .. मिलेंगे। इस प्रकार संभाषण करेंगे, जिससे .. छाया उनके शरीर पर न पड़ सके।

.. ब्राह्मण—हाँ, यह अवश्य देखना है कि .. चर्मकार से कैसे मिलते और किस प्रकार .. करते हैं, क्योंकि यदि चर्मकार की छाया .. पर पड़ गई तो वह राजा ही नहीं रह सकता। काश्मीर में ऐसे विवादग्रस्त अवसरों पर प्रजा राजा को चुनती है। धर्म के विरुद्ध राजा ने कोई भी कार्य किया तो क्रांति होगी, नया राजा चुना जायगा।

पाँचवाँ ब्राह्मण—तब तो हमें परमभट्टारक और चर्मकार की यह भेंट देखना ही चाहिए।

आदित्य शर्मा—(हँसते हुए) और मैं भी चलकर देखता हूँ। राजा ने यदि प्रासाद में बुलाकर चर्मकार का अपमान किया तो हम क्रांति करेंगे।

.. ब्राह्मण—(अत्यंत क्रोध से) ब्राह्मण- ..

..ाँ—बंधुओ, मैं तो एक दूसरी ही बात देखने .. ।

..—कौन-सी ?

..—यह कि वह चर्मकार त्रिभुवन स्वामिन् .. के लिए अपना झोपड़ा देता है या नहीं।

..—मैं भी यही देखने चल रहा हूँ। और .. उसके न देने पर परमभट्टारक ने यदि .. उस झोपड़े को न ले लिया तो मैं क्या .. ता हूँ ?

तेरहवाँ—क्या ?

चौदहवाँ—आज, सुना, आज ही उसका झोपड़ा उखाड़कर फेंक दूँगा।

छठा ब्राह्मण—यह तो करना ही पड़ेगा, नींव-पूजन के पश्चात् मंदिर उस स्थल पर बनना थोड़े ही रुक सकता है !

सातवाँ ब्राह्मण—हाँ, हाँ, रुका तो अनावृष्टि या अतिवृष्टि होगी, दुष्काल पड़ेगा, महामारी फैलेगी, सारी प्रजा त्राहि-त्राहि और पाहि-पाहि के शब्दों को चिल्ला-चिल्लाकर काल के कराल मुख में चली जायगी।

कुछ नागरिक—(एक साथ) हाँ, हाँ, हम सब उसके झोपड़े को खोदकर फूँक देने में तुम्हारा साथ देंगे।

आदित्य शर्मा—अंध और मिथ्या विश्वास। देखें कौन उसका झोपड़ा खोदता है। श्रीनगर का प्रत्येक युवक उसकी और उसके झोपड़े की रक्षा करेगा।

कुछ युवक—(एक साथ) अवश्य, अवश्यमेव।

आठवाँ—मैं कहता हूँ, निरर्थक का विवाद हो रहा है। पहले चलो, देखो, तो होता क्या है।

(वह चलता है।)

नवाँ—हाँ, हाँ, यह ठीक है, यह ठीक है।

(वह भी चलता है।)

[शेष नागरिक भी चलना आरंभ करते हैं।]

लघु यवनिका

छठा दृश्य

स्थान—दूसरे दृश्यवाला

समय—मध्याह्न

[चंद्रापीड़ कुछ सोचते हुए अकेला इधर-उधर घूम रहा है। प्रकाशदेवी का जल्दी-जल्दी प्रवेश।]

प्रकाशदेवी—भोजन भी अभी नहीं करेंगे, नाथ ?

चंद्रापीड़—रैदास के आने की सूचना किसी क्षण भी आ सकती है। मैं उससे मिलने के पश्चात् ही भोजन करूँगा।

प्रकाशदेवी—पर वह आ भी गया तो कुछ समय ठहर सकता है।

चंद्रापीड़—ठहर तो सकता है, प्रिये, किंतु उससे प्रासाद के बाहर जो मिलना है। वहाँ बड़ा भारी जन-समुदाय इकट्ठा हो गया है, और प्रतिपल बढ़ता जा रहा है। इस समय रैदास का उस जन-समुदाय के बीच देर तक अकेले रहना उचित नहीं है।

[प्रकाशदेवी दुखित मुद्रा से एक लंबी सांस लेती है। चंद्रापीड़ से उसकी मुद्रा और दीर्घ निःश्वास छिप नहीं पाते।]

चंद्रापीड़—क्यों प्रिये, तुम्हें भी रैदास से मेरा मिलना ठीक नहीं जान पड़ता ?

प्रकाशदेवी—मुझे तो वही ठीक जान पड़ता है, नाथ, जो आपको, परंतु आज पर्यन्त कोई राजा अस्पृश्य से नहीं मिला।

चंद्रापीड़—(शयन पर बैठते हुए) और जो किसी दूसरे ने नहीं किया, वह मुझे भी नहीं करना चाहिए ?

प्रकाशदेवी—(शयन पर बैठ) राजसिंहासन पर जब तक आप आसीन हैं तब तक तो आपको परंपरागत राजधर्म का पालन करना ही होगा।

चंद्रापीड़—तुम तो वही बात कह रही हो, प्रिये, जो साधारण बुद्धि रखनेवाले कहा करते हैं। पर आज प्रातःकाल तो तुम कह रही थीं कि काश्मीर के किस राजा ने चार वर्षों के एक युग में उतना काम किया, जितना मैंने ? आज ही तुमने कहा था जो विघ्न-बाधाएँ मेरे कार्यों के बीच में आती हैं उनका निवारण मैं असाधारण साहस, धैर्य, बुद्धिमत्ता और न्यायपरायणता से करता हूँ। हर बात को यदि मैं परंपरागत प्रणाली से ही करता रहूँ, तो मुझमें असाधारणता कहाँ ? मेरे संबंध में कुछ घड़ियों में ही तुम्हारे मत में परिवर्तन हो गया।

प्रकाशदेवी—(चंद्रापीड़ की ओर देखते हुए, सहमे हुए स्वर में) ऐसा नहीं है, नाथ, मेरा मत आपके संबंध में कभी परिवर्तित हो सकता है ? प्रथम मिलन से ले आज पर्यन्त ऐसा ही रहा है, और भगवान् से प्रार्थना है कि अंत तक ऐसा ही रहे। किंतु....किंतु (चुप हो जाती है।)

चंद्रापीड़—(प्रकाशदेवी की ओर देखते हुए) हाँ, किंतु पर चुप क्यों हो गईं, पूरी बात कहो, प्रिये।

प्रकाशदेवी—प्राणेश, बाहर जो भीड़ जमा हो रही है, उसमें अधिकांश व्यक्ति क्या कह रहे हैं, इसकी सूचना आपके पास आई है ?

चंद्रापीड़—हाँ, आई है, लोग मेरे चर्मकार से मिलने, उसके साथ संभाषण करने के विरुद्ध हैं।

प्रकाशदेवी—ठीक, और राजा रहते हुए प्रजा-रंजन आपका कर्तव्य है, प्रजा के मत के विरुद्ध जाना नहीं।

चंद्रापीड़—तुम भूल कर रही हो, देवि, प्रजा-रंज राजा का कर्तव्य होते हुए भी वह जीवित व्यक्ति है उसका व्यक्तित्व भी है। वह कोई निर्जीव पुतला नहीं। कौन बात उचित और कौन अनुचित है, इसके निर्णय करने की उसे ईश्वर ने बुद्धि दी वरन् किसी के राजा होने पर उसमें ईश्वर का हो जाता है, यह तक हमारे वेद, शास्त्र और कहते हैं। भगवान् ने गीता में अपनी को गिनते हुए 'नराणां च नराधिपं' 'ना विष्णुः पृथिवीपतिः' शास्त्रों का एक दू वाक्य है। एक ओर यदि मैं प्रजा का प्रतिनिधि हूँ, उसका रंजन मेरा कर्तव्य है, तो दूसरी ओर मैं उस ईश्वर का अंश हूँ जिसका समस्त सृष्टि में समान रूप से निवास है। जिसकी दृष्टि में ब्राह्मण, क्षत्रिय और चाण्डाल-चर्मकार में कोई भेद नहीं। जो सबके स्वत्वों की समान रूप से रक्षा करता है। एक ओर यदि मैं प्रजा-रंजन का ध्यान रक्खूँगा तो दूसरी ओर बहुमत के रंजन के लिए अल्पमत के स्वत्वों का अपहरण तो नहीं कर सकता। मुझे तो शक्ति रहते समाज के प्रत्येक वर्ण, प्रत्येक व्यक्ति के स्व रक्षा की ओर ध्यान रखना होगा। इसके लि पड़ने पर मुझे चाण्डाल से भी मिलना हो चर्मकार से भी। मैं एक दूसरे में भेद-कर सकता।

प्रकाशदेवी—किंतु इसका परिणाम क्रूर सकता है, आप जानते हैं, नाथ ?

चंद्रापीड़—क्या ?

प्रकाशदेवी—क्रांति हो सकती है, देव, की प्रजा को ऐसे अवसर पर नये राजा चुन अधिकार है।

चंद्रापीड़—इसकी मुझे चिंता नहीं, प्रिये, अवसरों पर यदि प्रजा को नये राजा चुनने का अधिकार है तो वह सहर्ष चुने, मुझे राजसिंहासन का कोई लोभ नहीं, पर जब तक मैं सिंहासन पर हूँ तब तक ऐसे अवसरों पर मैं भी अपनी बुद्धि, कर्तव्य और धर्म का बलिदान नहीं कर सकता।

प्रकाशदेवी—राजसिंहासन की मुझे भी चिंता नहीं

...ु, किंतु....किंतु मुझे चिंता है आपके....आपके शरीर की।

चंद्रापीड़—शरीर की चिंता। इस नाशवान् शरीर की चिंता! कर्तव्य और धर्म के पालन के समय इस ...वान् शरीर की चिंता तो मोह....महान् मोह है।

[नेपथ्य में कुछ कोलाहल होता है। दोनों उठकर द्वार के बाहर देखते हैं।]

लघुयवनिका

(क्रमशः)

दैनन्दिनी

पण्डित सुन्दरलाल त्रिपाठी

प्रातः सात के लगभग उठा। सायेटिका की पीड़ा दिन-रात प्राण लिये है। न दिन को उठ-बैठ सकता हूँ, न रात को निश्चिन्त सो सकता हूँ।

सोचता था, डाक आयेगी। डाक किन्तु नहीं आई। डाक नहीं भी हो सकती है और इधर-उधर भटक भी सकती है। ख़ैर।

चाय पीने के अतिरिक्त और भोजन करने के अतिरिक्त दो बजे तक कुछ नहीं कर सका। दो बजे के क़रीब 'राष्ट्रभाषा की पहली, दूसरी, तीसरी पुस्तकें' देखने बैठा। लगभग एक घण्टा मनोनिवेशपूर्वक पुस्तकें पढ़ने की चेष्टा की मैंने। राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति, वर्धा ने प्रकाशित की हैं ये पुस्तकें।

पुस्तकों के आरम्भ में राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति के उन्नायक आचार्य दत्तात्रेय बालकृष्ण काका साहब कालेलकर की सारगर्भित भूमिका पढ़ी मैंने—

'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन द्वारा स्वीकृत राष्ट्रभाषाकी व्याख्या बहुत व्यापक है। अुत्तर भारतके शहरों और गाँवोंकी आम जनता जिसे बोलती व समझती है और जो नागरी या फ़ारसी लिपिमें लिखी है, वही हमारी राष्ट्रभाषा है। शिक्षित, शिष्ट और संस्कारी लोगोंमें जो भाषा व्यापक रूपमें प्रचलित है, वह भी राष्ट्रभाषाका ही अेक रूप है। जब कि राष्ट्रभाषाका प्रचार पश्चिम, दक्षिण और पूर्व हिन्दुस्तानमें दिन-प्रति-दिन बढ़ रहा है, तब अुसे देशके अुन हिस्सोंकी जनताकी सहूलियतका ख़्याल ज़रूर रखना होगा। राष्ट्रभाषा अेक होते हुअे भी अुसके साहित्यमें भिन्न-भिन्न प्रकारकी शैलियोंके लिये अवकाश [illegible] रहेगा ही। जो लोग अपने देशको समझना च[illegible] और विविधतासे भरी देशकी संस्कृतिसे [illegible] अुठाना चाहते हैं, अुन्हें अध्ययनपूर्वक [illegible] शैलियोंसे परिचित रहना होगा। हमारी यह [illegible] होनी चाहिये कि राष्ट्रभाषामें किसी भी [illegible] संस्कार और शैलीका बहिष्कार न किया जाय। सब संस्कारोंको पचाकर वह सीधी, आसान और [illegible] सुलभ बनी रहे।

राष्ट्रभाषापर जिस तरह संस्कृत, प्राकृत, [illegible] फ़ारसीका असर हुआ है, अुसी तरह सब प्रा[illegible] भाषाओंके साहित्यका भी कुछ न कुछ असर अुस[illegible] ज़रूर पड़ेगा और तब धीरे-धीरे हमारी राष्ट्रभाषा परिपुष्ट, समर्थ और पूरी तरहसे राष्ट्रीय बन जायगी।

—काका कालेलकर'

मुझे खेद है, सम्मान्य काका साहब की वाणी का समर्थन पुस्तकों के द्वारा नहीं हुआ है। सब संस्कारों को पचाकर उनकी भाषा सीधी, आसान और लोक-

[illegible]ुलभ तो है ही नहीं, बाल-मनोविज्ञान की दृष्टि से [illegible]भी उसके मुहाविरे और भाव बहुत ग़लत-पलत हैं[1]।

उसके बाद थकान के समय कुनकुना दूध पीने की तुलना में डाक्टर धनीराम 'प्रेम' की डोरा पुस्तक [illegible]ने लगा। 'डोरा' कहानी मुझे पुस्तक की प्रस्तावना [illegible]गी।

[illegible]र 'प्रेम' विदेश में अनेक वर्ष रह चुके हैं। [illegible]र पुरुष का प्रेम मानव का प्रेम यदि है तो [illegible]ग और भारतीयत्व के सन्धि की भीत बालुका-राशि का सिद्ध नहीं होगी तो और होगा क्या? पुस्तक के द्वारा डाक्टर 'प्रेम' ने जाति और समाज से अप्रतिहत 'राष्ट्रप्रेम' की अपेक्षा उच्चतर और उच्चतम विश्वबन्धुत्व का डोरा बटने की कोशिश की है। लेकिन यह क्या है कि स्काटलैण्ड के 'ट्रोसाख'[2] और 'लौख लोमाण्ड'[3] से प्राप्त 'डौरोथी बैर्था विल्सन'[4] के समान हज़ार-हज़ार और लाख-लाख 'डोरा'[5] के हज़ार-हज़ार और लाख-लाख 'मोहन'[6] सामान्य एक कर्तव्यपालन का आश्रय पाकर दशो पहर और आठो याम 'पिउगान' आरम्भ करते हैं—'तुम्हीं ने दर्द दिया है, तुम्हीं दवा [illegible]'—और डाक्टर 'प्रेम' क्या निवृत्त हो गये? [illegible]उन्हें जो अपने मुरारी और 'हिन्दू-मुसलमान [illegible]फूल' से गंगाजी पर चढ़ावा चढ़वाना शेष है—[illegible]पूछो तो यह गङ्गाजी का प्रभाव है। न [illegible]के तट पर मिलते, न यह दिन देखने को [illegible]...'

'तो फिर गङ्गाजी पर चढ़ावा चढ़ाना चाहिए।'

'फूल-बताशे कहाँ हैं?'

'उसने अपनी जेब से कुछ बताशे निकालकर चबा लिये और बोला—'कहो, बताशे तो चढ़ा दिये?'

'और यह फूल'—कहकर उसने मुझे अपने वक्षः-स्थल पर छिपा लिया।

'द्रष्टा' की सन्तति तो ठहरी। बताशे वे भविष्य विचारकर लेते आये थे और 'फूल' सामने थी।

डाक्टर 'प्रेम' बेचारे क्या करें? वस्तुतन्त्र की कैफ़ियत से अनेक अब्दुला बच्चे पैदा हो सकते हैं, जो 'अल्लाहो अकबर' के बुलन्द नारे के साथ अज्ञान में अपने दो-चार हिन्दू बाबाओं का ख़ून कर दें। लेकिन इन बलियों के द्वारा मानव के द्वारा मानव के ख़ून का पाप शान्त नहीं होगा। डाक्टर 'प्रेम' की आत्मजा 'डौरोथी' कहीं 'अचलाजातीया' और आत्मजा 'फूल' यदि 'मृणालजातीया' बन पाती तो मुझे अधिक अच्छा लगता। युग लेकिन जो दूसरा है। डाक्टर बेचारे क्या करें?

दिन मेरा इसी प्रकार व्यतीत हुआ। शाम भी ऐसी ही चिन्तामग्न, अकर्मण्य-सी बीती—वात-व्याधि और शिरःशूल लेकर।

दैनन्दिनी लिखते-लिखते भावना में पड़ गया। स्फुट अपना लेखन संकलित करके यदि मुद्रित, प्रकाशित करवा दे सकूँ तो सुन्दर एक पुस्तक बन जाय। भाषा 'हिन्दुस्तानी' कर दूँ। 'छिन्न-पत्र' नाम रवि ठाकुर की बँगला पुस्तक का है—यद्यपि है उपयुक्त तो क्या? 'सञ्चयन' हलका-सा प्रतीत होता है। 'समन्वय' आख्या हो अतः।

पुस्तक माननीय शुक्लजी को समर्पित की जाय खद्दर काग़ज़ की मुद्रित प्रति में। पृष्ठ के चहुँ ओर स्पष्ट प्रतिकृतियाँ हों शुक्लजी के चित्र की। बीच में पंक्तियाँ मुद्रित हों—

निवेदन

मध्यप्रान्तिक कांग्रेसी शासन के प्रमुख सचिव माननीय शुक्लजी के वत्सल आदेश अनुवर्तन और उनके बुज़ुर्गाना बेहतरीन रहनुमाई के दिनों में वेदना, आवेग, सुख और स्मृतियों का जो मधुर अवसर—

---

[1] [illegible]ख्या [illegible] पुस्तक [illegible] आलोचना [illegible] काका साहब से इस सम्बन्ध में मेरी चर्चा [illegible] उन्होंने उदात्त भाव से स्वीकार किया [illegible] पुस्तक में तमाम इस प्रकार की भूलें हैं। [illegible]कन उन्होंने बताया कि यह प्रकाशन साधन-हीन प्रथम प्रयास है और अजीब परेशानी और जल्दबाज़ी में पुस्तकें छपी हैं।

२, ३—स्थानविशेष।

४—स्काच-कुमारी का नाम विशेष।

५—स्काच-कुमारी डौरोथी बैर्था विल्सन।

६—प्रेमिक।

लफ़्ज़ी मानी में अन्दरूनी जज़बात को ज़ाहिर करने का जो नादिर प्यारा मौक़ा मैंने पाया, उसका ही सृजन (सिरजन)—'समन्वय' है।

इसलिए सूबे की तालीम और अनुशासन, क़ानून और नीति आदि के स्रष्टा (सिरजनहार) बुज़ुर्ग माननीय शुक्लजी के करकमलों में मौजूदा सृजन 'समन्वय' निवेदित।

विनीत,

—लेखक।

नींद मुझे नहीं लग रही। लेकिन लिखना इस वक़्त अब बन्द करूँ।

* * *

जगदलपुर (बस्तर स्टेट)

१३–३–१६४०

६, सन्ध्या।

इतने दिनों से न कुछ कर सका, न कुछ लिख सका। दिन-पर-दिन बीतते चले गये और मैं अकर्मण्य, अवसन्न, अज्ञान, अन्ध के समान बैठा हूँ। ये मेरे दिन हैं—गृहस्थ के, आत्मगरिमायुक्त मानव के, स्वाधीन-चेता के, मसिजीवी के! छिः रे वितण्डावादी तुच्छ मानव!

मानव लेकिन मेरा महत् है,—वृत्ति उसे मिट्टी में मिलाये है। सात को गया था 'कोराटा'—सवा सौ मील दूर स्टेट के सीमाप्रान्त में। सोचता था, परिवर्तन से वृत्ति में कर्मण्यता आयेगी। कल प्रातः लौटा। वृत्ति शायद 'आफ़्टर एफ़ेक्ट' से आज उन्मुख हुई।

'कोराटा' स्थान मुझे पसन्द आया। शाल, सागौन, बाँस, ताल तथा नाना प्रकार के गगनचुम्बी वृक्षों से घिरा गोदावरी से बीस मील दूर नदी किनारे के पचीस घरों का गाँव है वह। बस्तर, उड़ीसा और मद्रास [illegible]। सन्धिस्थल होने के कारण किन्तु तहसील का स्थान है। पोस्ट आफ़िस भी है वहाँ। तार लेकिन भेजा जाय तो बस्तर स्टेट के कोराटा स्थान से भेजा तार कोनावरम, बेजवाड़ा, मद्रास, नागपुर, रायपुर [illegible] हुआ बस्तर स्टेट की राजधानी जगदलपुर पहुँचे[illegible]

बस्तर के वन्य व्यक्ति चाहे जैसे हों,—[illegible] अच्छे लगते हैं। कोराटा में 'नीरा' पिई मैंने [illegible] के स्वास्थ्यप्रवर्तक उपाहारगृहों में 'पीयूष' [illegible] मट्ठा काँच के सामान्य गिलास में प्रति गिलास शायद छः पैसे के हिसाब से दिनभर में दो-तीन बार, अनेक बार पीने का अवसर मुझे मिला है। 'नीरा' अमृत काँच के सामान्य दो गिलास विना पैसे के पीने को वहाँ मुझे मिला। अमृतजाति शायद मधुर है, 'नीरा' मधुरतम है। 'सकल पदारथ हैं जग माहीं; कर्महीन नर पावत नाहीं।' बस्तर के मूलनिवासी पराधीन होने पर भी कर्महीन अभी तक पूरे-पूरे नहीं हुए। इसी लिए अमृत 'नीरा' पा जाते हैं।—कर्मवश मैं भी एक दिन पा गया।

शरत् बाबू की 'दत्ता' पुस्तक का अनुवाद [illegible] नहीं हुआ। प्रेमीजी प्रतीक्षा में हैं। आज [illegible] ठीक नहीं है। रात को लेकिन काम करूँगा [illegible]

१—तालवृक्ष का सद्यः निःसृत रस। [illegible]

२—पुस्तक 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर [illegible] बम्बई' से प्रकाशित हो गई है। एक ना[illegible] वादक का उसमें और जुड़ गया है।—लेखक।

भारत का मज़दूर

श्रीरामचन्द्र जायसवाल

(१)

ग्रीष्म की धूप
सिर पर आग का गोला
पैरों नीचे जलता तवा
गरम-गरम सनसनाता पवन
एक सूखा-सा युवक
हाथ में कुदाली लिये
खोद रहा है
धरती
या अपनी क़बर ?
पसीना बह रहा है
पर उसे कहाँ ध्यान
खोद रहा है
खड़, खड़, खड़, खड़
खड़, खड़, खड़, खड़

(२)

खोद रहा है ज़मीन
कुदाली पत्थर से टकराई
फल जा घुसा टाँग में
चीखा हाय—
और गिर पड़ा मैदान में
कुछ दूरी से खड़े-खड़े
देख रहे ठेकेदार साहब—पर
लगायें कैसे हाथ—
फ़र्क़ आवे शान में
किटकिटाये दाँत
फट पड़े बायलर-से—
हरामखोर
न रखते ध्यान ।
उठाओ इसे ।
खड़ा था डरा-सा
मुरली कुछ दूर,
डरे क्यों न ?
आखिर ठहरा मजूर
फटे-से साफ़े का
मैला एक टुकड़ा
बाँध दिया टाँग में
पल भर पानी ला—
डाला कुछ टाँग पे
और कुछ मुँह में
बैठ गया पास
कुछ देर बाद
उठा कराह कर
लेकर कुदाली—फिर
लग गया काम पर

(३)

शाम को
निबट काम से
काट दो आने हरजाने के
दिये केवल तीन आने
गिड़गिड़ाया मोहन—
हुज़ूर
घर में है बच्चा बीमार
सूख गया रोग से
पैसे चाहिए—रोगी के
इलाज के—डाक्टर को
बात करते रुपयों से वे
माथा टेक धरती पर
रोया था
गिड़गिड़ाया था

किये थे उधार तब
आने आठ
पर अब—देखेंगे भी नहीं
इन तीन आनों को
दूँगा आने पाँच
पूरे कर दो मालिक
आने पाँच
शायद मान जावें वे
मेरी विनय को
बोले हुज़ूर
तरेरकर आँखें—
बच्चा है बीमार
मरे आज—गर
कल मरता हो
पैसे गर माँगता है
डाक्टर इलाज के—
चोरी कर, डाका डाल
मुझसे क्या कहता है
पूरे कर दो आने पाँच
मानो हैं तेरे बाप के
सुनकर बात सब—
खून खौल उठा मोहन का
पर
रह गया मार मन—
अपनी हालत को देख
फिर बोला नम्र हो
बड़े करुण-स्वर से—
लगी चोट—पर
काम करता रहा
बन्द नहीं किया—काम
छिन भर को
और फिर—हो आप ही
माँ-बाप मेरे
आसरे हूँ आपके ही
साँझ औ सबेरे

—बस-बस
चला जा—
होंठ को चबाते
और आँख से बरसाते आग
गरज उठे ठेकेदार—
क्या समझा—है पैसे
मेरे पास हराम के
दे दूँ जो तुझे
आँख मूँदकर
बनता है सच्चा, बड़ा,
हरामी मुफ़्तख़ोर
रह गया मन मसोस
पी गया घूँट
खून के
बिखर पड़े आँसू
—बेबसी के
चल दिया उसाँस भर
घर की ओर

(४)

चल रहा था द्वन्द्व
मन में उसके—
पास में हैं आने तीन
भूखे हैं घर में तीन
रह लूँगा भूखा मैं
पर
दवा चाहिए बच्चे को
खाना चाहिए औरत को
—सुनी चीत्कार—क़दम
रखते ही कोठरी में—
मिट गया द्वन्द्व सारा
बुझ गई 'लौ'—
रह गई निरर्थक बाती
दे घुटने में सिर—बैठ गया
मजबूर
वह भारत का मज़दूर !

गुलाम गोवा

श्रीयुत श्यामविजय पाण्डेय

अनेक दिनों से विभिन्न मित्रों ने गोवा के संबंध में इतनी अधिक चर्चा की थी कि अवकाश मिलते ही उसे देखने, सुनने और समझने की उत्सुकता का ओरछोर न था। इस बार भी साथियों की कार्यव्यवस्था का यह हाल था कि दो बार जहाज़ [illegible] पर वरदान के समान "भाऊ का धक्का" [illegible] स्टेशन) मिला। लड़ाई के कारण स्टीमरों [illegible] सप्ताह में एक या अधिक से अधिक दो [illegible] के लिए जहाज़ मिल पाता है। कभी-[illegible] दिन तक लाइन ही नहीं मिलती। किस [illegible] समय पर स्टीमर छूटेगा और किन-किन [illegible]रगाहों पर रुकेगा, ये बातें आमतौर पर नहीं [illegible]ती जब तक कि "भाऊ के धक्के" बम्बई [illegible]जाकर न जाना जाय। वहाँ की रवानगी के [illegible] पहले सुबह १० बजे, जिस समय स्टीमर [illegible] सीटी बजा चुका था, हमारी मोटर डेडब्रेक [illegible]कर रुकी और भागते-दौड़ते, हाँफते हुए हम लोग स्टीमर पर बिना टिकट साँसें लेने लगे। अधिकारियों की कृपा से स्टीमर दो मिनट लेट करके हमारे टिकट मँगा दिये गये, और तीसरी ह्विसिल बजाते हुए वह स्टीमर किनारे से सैकड़ों गज़ के फ़ासले पर आ गया। अब हमने भीतर की व्यवस्था देखना शुरू की। लोअर डेक के दो दरजे, जिन्हें हम थर्ड क्लास कह सकते हैं, इसके बाद अपर डेक और केबिन इन्हीं—तीन प्रकार के दरजों में वह स्टीमर विभाजित था। सबसे नीचे हिन्दू-भोजनालय जिसमें निरामिषभोजियों के लिए सामान तैयार होकर मुसाफ़िरों के बिस्तरों पर पहुँचाने का प्रबन्ध था और दूसरे खंड पर एक गोवानी साहब के दो दूकानतुमा रेस्टारेन्ट थे जिनमें मांसाहारियों के लिए आहारव्यवस्था थी। नीचे और दूसरे खंड में बिस्तरों तथा सन्दूकों को एक दूसरे से भिड़ाये हुए मुसाफ़िर लोग लेटे, अधलेटे और बैठे हुए थे। उसी प्रकार से जैसे किसी पर्वी पर गंगा के किनारे अपनी-अपनी पोटली सँभाले स्नानार्थी अधिष्ठित होते हैं और आने-जानेवाले उन्हें फाँद-फाँदकर आते-जाते हैं। वहाँ भी पाख़ाने-पेशाब आने-जाने और खाने-पीने की सामग्री लानेवाले होटलों के छोकरे मुसाफ़िरों के सामान को रौंदते हुए स्त्री-पुरुषों को फाँद-फाँदकर इधर-उधर फुदकते दिखाई पड़ते थे। अपर डेक पर आड़े, तिरछे, लाँबे एक दूसरे से बिस्तरे सटाकर यात्री लोग वैसे ही लेटे हुए थे जैसे किसी सड़क के फुटपाथ पर इंच-इंच जगह को सुन्दर बिछावन से आच्छादित कर बदन से बदन छूते हुए स्त्री-पुरुषों ने मूर्च्छित होने की ठानी हो। यहाँ भी नीचे ही की तरह बिना किसी प्रकार की आज्ञा लिये निःसंकोच सभी के बिस्तरों को रौंदते हुए आने-जानेवाले आते-जाते थे।

एक उल्लेखनीय बात यह भी है कि यहाँ पर स्त्री-पुरुषों के बीच किसी प्रकार का संकोच विशेष न था। अपरिचित स्त्री-पुरुष बराबर बिस्तर बिछाये हुए नहीं के जैसे फ़ासले का बराव करके लेटे हुए थे।

गोवा-यात्रा आरंभ करते ही जो अनुभव सर्वप्रथम होता है, वह मछली की दुर्गंध है। समुद्री किनारों में मछली की बहुतायत ही इसका आधार होने से यह वहाँ की प्रमुख खाद्य पदार्थ बन गई है। किन्तु हमें तो इसके कारण कुम्भक प्राणायाम का अभ्यास करना पड़ा। कुछ घंटों तक जी भरकर साँस लेना दूभर हो गया और समुद्री वायुमंडल, स्टीमर की गति, तथा इस घ्राण ने कुछ सज्जनों को मिचला-सी महसूस कराई। अतएव उन्होंने कुछ न खाने का निश्चय किया। १० बजे सुबह बम्बई से चलकर शाम को ७ बजे पहला हाल्टिंग स्टेशन "रत्नागिरी" बन्दरगाह आया और हमारा "एस-एस० चन्द्रावती"—जो पश्चिमी किनारों से दो-ढाई मील की दूरी पर चल रहा था, उक्त स्टेशन से लगभग दो-तीन फ़र्लांग की दूरी पर रुका। इतने समय के बीच समुद्र का जल, वेस्टर्न कोस्टस, दूर-दूर पर पतवारें डाले मछली पकड़नेवाली नावें और यत्र-तत्र उड़ती हुई चिड़ियों के अतिरिक्त कुछ भी दृष्टिगत न हुआ था। यहाँ पर अंधकार के बीच गैस की टिमटिमाती रंगीन रोशनी के आभूषणों से दमकते हुए छप-छप करता हुआ एक छोटा बोट और तीन बड़ी नावें आईं। बोट ने जहाज़ की परिक्रमा लगानी शुरू की और नावों में स्टीमर के लगभग तीन हज़ार यात्रियों में से चार सौ के क़रीब प्राणियों ने नावों पर उतरकर "रत्नागिरी" को प्रस्थान किया। बीस मिनट के बाद फिर भोंपू बजा और वह जलयान गतिमान् हो चला।

रात्रि में सवा नौ बजे दूसरा स्टेशन 'जैतपूर" आया। यहाँ भी जहाज़ पानी में ही किनारे से दूर रुका और वैसे ही बोट तथा नावों द्वारा यात्री उतारे गये। फ़र्क़ सिर्फ़ इतना ही था कि 'रत्नागिरी' में नावें बड़े-बड़े डाँडों से खेकर लाई गई थीं और यहाँ की नावों को मुसाफ़िरों सहित वह बोट खींचकर लाया था तथा ले चला। सभी नावों को एक लंबी डोरी के सहारे वह मोटर बोट खींच रहा था। रात्रि की नीरवता में वह अलबेला मोटरबोट झूम-झूमकर सागर की लहरों से इठलाता हुआ एक गोल चक्कर लगाते हुए उन नावों को खींचे लिये जा रहा था और उनमें जलनेवाली रोशनी को हम टिमटिमाती हुई क्षीण दीप्त शिखाओं के सदृश वृत्ताकार देखकर अपूर्व आनन्द प्राप्त कर रहे थे। इस बीच वेस्टर्न कोस्टस् के एक कगार पर दूर से घरोंदा जैसा जान पड़नेवाला वह क़िला दिखाई दिया जिसमें किसी समय पोर्चुगीज़ लोगों ने बर्मा के महाराजा को क़ैद किया था। इसके बाद हम सो गये। सुबह 'पेंजम' बंदरगाह आया। बस, यहीं पर हमें क्या, क़रीब-क़रीब सभी को उतरना था। सुबह की सुहावनी बेला में पहाड़ों की कगारों से लटके हुए किन्तु उन्नतमस्तक ताड़, नारियल आदि के वृक्ष अपनी हरियाली से मनोरमता का साम्राज्य विस्तृत कर रहे थे। हम लोग विना बेग, बिस्तरे के डाक्टरी जाँच के बाद स्टीमर से उतार दिये गये। लगभग दो घंटे बाद एक गन्धक-वाले बदबूदार गोदाम में हमने अपने बिस्तरों के दर्शन पाये। सामान की जाँच शुरू हुई। सबसे पहले [illegible] खोलते ही ऊपर ही रक्खा हुआ 'ताश' [illegible] निकला और जाँच करनेवाले आफ़िसर ने [illegible] एक ताश निकालकर फाड़ डाला। हमा[illegible] मित्र ने ऐसा करने का कारण पूछा [illegible] आदमी ने उसमें से दो ताश और निका[illegible] फेंके। अब हमारे मित्र का पारा गरम हो गय[illegible] उन्होंने आवेश में आकर उससे कारण [illegible] किया। यह इँगलिश में और वह पोर्चुगी[illegible] अपनी कह रहे थे। केवल भावभंगी ही एक[illegible] बता रही थी कि क्रोधायमान होकर बातें हो [illegible] अन्त में पोर्टकमिश्नर के पास मसला पहुँचा [illegible] इँगलिश जानते थे। उन्होंने बताया कि यहाँ ताश के पैकेट पर बीस आना ड्यूटी है। कोई भी यात्री इसे नहीं चुकाता, इसलिए आम तौर पर फाड़ दिये जाते हैं। थोड़ी-सी शिष्ट बातों के बाद यह कजिया ख़त्म हुआ। हम लोगों को टोल टैक्स चुकाकर फ़ुरसत मिली। यह झगड़ा हमारे लिए अच्छा रहा; क्योंकि

बाद में मालूम हुआ कि किसी भी हिन्दी, उर्दू आदि देशी भाषा की किताबें विना सेंसर कराये गोवा नहीं ले जा सकते। हमारे पास लगभग डेढ़ सौ रुपये की अच्छी पुस्तकें थीं, जिन्हें हम लोग सफ़र में पढ़ने को लाये थे और पढ़ भी न पाये थे। वे पुस्तकें अगर वहाँ रोक ली गई होतीं तो जाने कब किस दशा में ब्रिटिश कौंसिल के ज़रिए हमें वापस मिलतीं? इस 'ताश' के झंझट ने हमारी बड़ी रक्षा की कि उसके बाद कुछ देखा ही नहीं गया।

पोर्चुगीज़ इण्डिया के नाम से लगभग छः-सात लाख की जनसंख्या रखनेवाला ६ ज़िलों में विभक्त गोवा एक सूबा है। वहाँ पहुँचकर हमें सबसे पहली दिक़्क़त होटल की हुई। एकमात्र गुजराती ढाबानुमा होटल ही ऐसा था जहाँ हम ठहर सकते थे। किन्तु वहाँ सफ़ाई के नाम पर शून्य था। उसकी व्यवस्था वैसी ही थी जैसे हम संयुक्तप्रान्त के किसी क़स्बे में एक छोटे ज़मींदार के घर पहुँच गये हों। दूसरे सभी होटलों में जहाँ अन्य प्रकार की सुविधाएँ थीं, वहीं मछली की दुर्गंध हमें १० मिनट रुकने न दे [illegible] थी। अन्त में हमें उस गुजराती होटल ही को [illegible] बनाना पड़ा।

[illegible]म' एक और दो खंड के अर्ध बँगलानुमा [illegible]से बना है और गोवा के पोर्चुगीज़ गवर्नर [illegible]हते हैं। बड़ी-सी कोतवाली, लम्बा बन्दर-[illegible]लिए [illegible]सी-किसी समय हहराता अन्यथा लहराता [illegible]आ समुद्र, इसके अतिरिक्त दो फ़र्लांग लम्बा बाज़ार [illegible]त के छोटे-छोटे पार्क तथा लाल रंग की मिट्टी-[illegible]ड़कों से उड़ता हुआ गुलाल यही सब मिल-[illegible]रम था। वहाँ से दूसरे स्थानों के लिए प्राइवेट [illegible]याँ और विक्टोरिया घोड़ागाड़ियों की घंटियों [illegible] आवाज़ात्मक स्वागतकारिणी समिति आगन्तुकों को अभिनन्दन करती हुई दिखाई दी। किन्तु इस स्वागत के भीतर एक कड़वापन नवागंतुकों को खेलता-सा दीखता था। वहाँ की पुलिस में शत-प्रतिशत बलिष्ठ नौजवानों का ही दिग्दर्शन हुआ। लेकिन उनकी सभ्यता में कोई कसर न थी और वे मुस्तैद तथा निरभिमान थे।

सुबह स्टीमर से बाहर होकर होटलों की तलाश करते हुए सबसे पहले जिस नौजवान से भेंट हुई उसने हमें उपदेश देते हुए गांधी टोपी उतार देने की सलाह दी। अन्यथा गिरफ़्तार या रोककर जाँच होने का भय बताया। किन्तु थोड़ी देर बाद ही सिर से पैर तक खद्दर धारण किये हुए और सफ़ेद गांधी टोपी को तिरछी अदा से दमकाते हुए दो नवयुवक दिखाई दिये। वे जिस होटल में घुसे हम भी उनका पीछा करते हुए उनके सामने की टेबिलों पर जा बैठे। उनसे मालूम हुआ कि गोवा में कुछ समय पहले कांग्रेस आफ़िस था। लेकिन सरकारी तौर पर ग़ैरक़ानूनी ठहराने से वह बन्द हो गया। अब वहाँ किसी प्रकार की राजनीतिक चहल-पहल नहीं है। हिन्दू-सभा, आर्य-समाज, कांग्रेस किसी प्रकार का भी संगठन नहीं है। खद्दर या गांधी टोपी पर भी कोई रोक न थी।

दोपहर में हम लोग नहा-धोकर भोजनादि के बाद घूमने को निकले। सबसे पहली बात तो यह थी कि हमारा बदन हरे रंग का हो गया था, यह वहाँ के जलवायु का प्रभाव था। सड़क पर हम एक छिलका भी न फेंक सकते थे; क्योंकि वहाँ के म्यूनिसिपल क़ानून सफ़ाई के लिए बहुत ही कड़ाई के साथ पालन किये जाते थे। हम जिस तरफ़ से निकलते वहाँ के निवासी हमें किंचित् आश्चर्य से देखते और कभी-कभी कुछ लड़के पीछे-पीछे चलने लग जाते थे। किसी वजह से कुछ बात पूछने पर तो अवश्य ही दस-पाँच व्यक्ति एकत्र होते और हमारी कोकनी, हिन्दी, मराठी, गुजराती और इँगलिश के शब्दों से बनी हुई खिचड़ी, नहीं बल्कि "तहरी" भाषा से जो कुछ समझ पाते उसे पोर्चुगीज़ के चिरायतावाले कोढ़ के समान अपने वचनामृतपान कराते हुए हमें उत्तर देते थे, जिससे हम उनकी भावभंगी तथा अपनी जिज्ञासा के लक्ष्यार्थ और एक-दो शब्दों के सहारे पचीस प्रतिशत मतलब निकाल ही लेते थे। वहाँ सस्ते या अधिक पैसों पर ऐसे दुभाषिये पूरे दिन के लिए मिलते थे। इन लोगों से भाषासम्बन्धी तमाम दिक़्क़तें दूर हो जाती थीं। ये लोग पैसा पैदा करने के लिए एक सप्ताह से पहले गोवा की पूरी सैर न कराते थे जिसे हमने तीन दिन

में समाप्त कर लिया था। दूसरे वे लोग क़दम-क़दम पर हर बात में कमीशन खाने के आदी होने के कारण विश्वस्त न थे। इसके अतिरिक्त मौलिकता का अनुभव भी न हो पाता था। पेंजीम की बस्ती का पूरा चक्कर लगाकर हम लोगों ने टैक्सी ली और पुराना गोवा देखने चले। राह में कहीं दोनों तरफ़ पहाड़, कहीं एक तरफ़ समुद्र और दूसरी तरफ़ खेतों की हरियाली तथा समुद्र के पानी से बनाये गये मटमैले नमक के ढेर आदि वन, पर्वत, समुद्र इस त्रिपुटी का सम्मिलन अपूर्व शोभा का विस्तार कर रहा था। किंतु कहीं पर हमारी आँखें गोवा के कृषकों को देखकर तर हो रही थीं। हाथ में हँसुआ जैसा तेज़ धारवाला हथियार व कुल्हाड़ी लिये सिर से पाँव तक नग्न केवल एक चिट लगाये हुए हमारे अन्नदाता दीन किन्तु दयनीय कातर दृष्टि से हमें देखते हुए दिखाई देते थे। उनकी देह रक्तहीन कबीर के एकतारे-सी हो रही थी। एक वहीं के निवासी से पूछने से मालूम हुआ कि यहाँ का पहनावा यही है। सौ में एक-दो लोग पूरी धोती तथा उचित वस्त्रों से आच्छादित दिखाई देकर यह साबित कर रहे थे कि यह पहनावा नहीं, बल्कि दुर्भिक्ष का निवास होने से ही यह विवशता विद्यमान है।

पुराने गोवा की बस्ती में अधिक से अधिक डेढ़ या दो हज़ार जनसंख्या होगी। उस छोटे से क़स्बे के आसपास गिरजों की धूम है। हमें एक मित्र ने उनमें से एक गिरजे का नाम बताते हुए यह बताया कि उसमें किसी समय हज़ारों हिन्दुओं को इसलिए क़त्ल किया गया कि उन्होंने ईसाई-धर्म ग्रहण करने से इनकार किया। हम सर्वप्रथम उसी गिरजे को देखने चले। वह भीमकाय 'सेन्ट पीटर' लगभग सात-आठ सौ फ़ीट ऊँचा और पाँच सौ फ़ीट की चौड़ाई में बना होगा। उसके आलीशान दरवाज़े किसी क़िले के फाटक से कम न थे। मेरे मित्र मुझसे कुछ आगे थे। मैं भीतर घुसा तो उस सुनसान स्थान की महान् डरावनी काया ने सतर्कता की सृष्टि मेरे हृदय में पैदा कर दी। मैं यह न जान सका कि मेरे मित्र किस तरफ़ हैं। सामने ही ऊपर की मंज़िल में जाने का रास्ता था। मैं ज़ीने में उन क़रीबन् आठ-दस फ़ुट लम्बी-चौड़ी सीढ़ियों पर चढ़ते हुए दीवालों में लटके बड़े तैलचित्रों के धार्मिक भाव देखता हुआ ऊपर चढ़ता चला जा रहा था। यद्यपि वे चित्र अहिंसा के उस महान् पुजारी ईसा के थे पर मन की दुर्भावना मानो उस गिरजे में अन्य धर्मावलम्बियों का कथित क़त्ल और उन चित्रों की दाढ़ीदार विशाल रूपरेखाएँ मुझे चौकन्ना बना रही थीं। एक चित्र में नंगे बदन का साधु एक भागते हुए छोटे बच्चे के पीछे हाथ लपकाये पकड़ने को उद्यत था। ऐसे पवित्र दृश्य को मेरा संशयात्मक दिल अँगरेज़ी किताबों के गुफा दैत्य (जाइएंट) की कहानियों के रूप में हृदयंगम कर रहा था। अभी दो-तीन सीढ़ियाँ शेष थीं कि ऊपर का एक दरवाज़ा घड़घड़ाहट के साथ खुला और भीतर से लम्बा काला चोग़ा पहने लम्बी-सी दाढ़ीवाले लगभग साढ़े छः फ़ुट ऊँचे पादरी महोदय निकले। मन की भयप्रद भावना से मेरे रोएँ खड़े हो गये और बदन में हलकी-सी कँपकँपी हुई। उस ईसाई पादरी की शांत और गम्भीर मुद्रा मुझे व्याकुल ही कर रही थी। किन्तु फिर भी आगे बढ़कर उनसे उस [illegible] को देखने की बात कही। उसने तुरन्त ही एक [illegible] को बुलाकर उसे (नौकर) आठ-नौ इंच की [illegible] लम्बी सलाख़ों-सरीखी चाभियों का एक मो[illegible] देकर हमारे साथ कर दिया। तरह-तरह के [illegible] हालों में घुसकर हमने देखना शुरू किया [illegible] ऊँची-लम्बी दीवारों पर जैनियों के मन्दिरों-सरीखी सुनहली पच्चीकारी से कहीं-कहीं पर नाना[illegible] चित्रकारी और कहीं-कहीं पर सादी नक़्क़ाश[illegible] बेलबूटे बने हुए थे, जिनका रूपरंग सोने-[illegible] ऐसी आभा लिये हुए था। ईसा तथा अन्य [illegible] संतों की ५-७ फ़ुट ऊँची विभिन्न धातुओं से बनी प्रतिमाएँ खड़ी थीं, क्योंकि यह गिरजे पहले देवमन्दिर थे और सिवा देवमूर्तियों को बदलकर ईसाई संतों की प्रतिमाएँ स्थापित करने के अतिरिक्त और कोई फेरफार नहीं हुआ था। प्रत्येक दृष्टि में यही ज्ञात होता था कि हम किसी विशालकाय हिन्दू-मन्दिर को देख रहे हैं।

वहाँ से निकलकर दूसरे कैथेड्रल (गिरजे) में गये। यहाँ अनेक पादरी बैठे हुए थे। उनमें से एक ने बहुत-सी बातें बताईं। ऐसे ही में भीतर से बड़े पादरी महोदय कई शिष्यों के साथ निकले। हमारे निकट के सभी नौजवान पादरी उठकर उनके पास चले गये। उन लोगों ने 'सर्विस' (प्रार्थना) की क्रिया प्रारम्भ की। प्रार्थना में प्रधान पादरी उसी प्रार्थना का कोई खास वाक्य का एक अंश कहता और अन्य उपस्थित मिलकर शेषांश को पूर्ण करते। इस प्रार्थना का वही दृश्य था जैसे हिन्दू पण्डित वेदमंत्रों का उच्चारण उच्च स्वर में करते हैं। इन ईसाई पादरियों का व्यक्तिगत रहन-सहन और पहनावा महाराष्ट्र परिवार के लोगों के समान होता है। सवा चार सौ वर्ष से ईसाई-धर्म की दीक्षा लेने पर भी इन लोगों में हिन्दुत्व की छाप अब भी अपना कुछ अस्तित्व बनाये हुए है। कई अन्य गिरजों के देखने के बाद दिल में दो बातों का आविर्भाव हुआ। मेरे दिल्ली-निवासी एडवोकेट एवं राष्ट्रीय युवक साथी ने कहा कि इन गिरजों के देखने और इनके पूर्व इतिहास जानने के [illegible]दमें यह स्वीकार करने में ज़रा भी न हिचकना [illegible] कि धार्मिक दृष्टि से अन्य हुकूमतों के बनिस्बत [illegible]ों का धार्मिक शासन भारत में कम अन्यायी [illegible]ारेज़ों ने भले ही हमें आर्थिक, राजनीतिक, [illegible]क तथा नैतिकता से गिराया; परन्तु धर्म के लिए ऐसे रोमांचकारी या ख़ून के आँसुओं से रुलाने-[illegible]त्याचार इतनी प्रचुर मात्रा में नहीं किये जिनमें [illegible]छ कटु-[illegible] के समुदाय धर्मप्रचार की नाजायज़ लिप्सा [illegible] मालोच[illegible]दान हो गये हों। यद्यपि अँगरेज़ों के धर्म-[illegible]स बह[illegible]र का मार्ग भारत में ख़ून तथा अत्याचारों से [illegible] भरा है पर उनका मार्ग तो फुसलाकर धर्म ग्रहण करवाने का है। गोवा में राष्ट्रीय जाग्रति का अभाव है। ब्रिटिश भारत में तो कुछ राजनीतिक चहल-पहल दमन की छाया में दिखाई भी पड़ जाती है पर गोवा में इन बातों का ख़याल ही स्वप्नवत् है। यहाँ तक कि वहाँ पर किसी सामाजिक संगठनात्मक संस्था तक का पता न चला। समाचारपत्रों से भी महरूम होना पड़ा।

धार्मिक चढ़ा-ऊपरी कभी अच्छी नहीं कही जा सकती। हमें तो चाहिए कि हम हर धर्म की अच्छाइयों को अपनावें। किसी क़ौम का किसी क़ौम के ऊपर धार्मिक बोझ हमेशा अनुचित ही कहा जायगा, वह क़ौम चाहे जो हो। दूसरी बात जो मेरे मन में उत्पन्न हुई वह ईसाइयों के मूर्तिपूजक होने की थी। गोवा के गिरजों की मूर्तियाँ, उनकी परस्तिश के तरीक़े साफ़ बता रहे थे कि स्वरूपपूजा को मूर्ति-पूजा नहीं तो क्या कहा जाय? भले ही यह बात वहाँ सिर्फ़ इसलिए हो कि गोवा के ईसाई आदि में हिन्दू थे और वे ज़बर्दस्ती अन्य धर्म मानने को बाध्य हुए। आह, चाहे उनके कुछ संस्कारों की अमिट भावना के द्योतक यह दृश्य हो किन्तु गोवा के गिरजे मूर्तिपूजा के मौन साक्षी या प्रबल प्रमाण अवश्य हैं।

इसके बाद हम लोगों ने मुंगेश, मारडोल, नागेश, केवरलों और सिरोडा स्थानों को देखा। इन सभी स्थानों में महालक्ष्मी, सरस्वती, नागेश आदि विभिन्न देवताओं के पाँच, सात, सौ वर्षों के पुराने विशालकाय मंदिर हैं। प्रतिवर्ष समय-समय पर उनके उत्सव होते हैं जिनमें उक्त स्थानों से सम्बन्धित समुदाय आते और चढ़ावे चढ़ाते हैं। जैसे महालक्ष्मी का मंदिर सारस्वत ब्राह्मणों की विरासत है अतः बम्बई, पूना आदि स्थानों एवं रियासतों से उनके गुज़ारे की रक़में आती हैं। इसके अलावा इन मंदिरों की जायदादें भी हैं। सामयिक उत्सवों का नाम यात्रा है। ऐसी ही एक यात्रा के लिए हम लोग पॅंजीम से टैक्सी लेकर रात्रि में बारह बजे मारडोल को (जो वहाँ से लगभग ४० मील था) रवाना हुए। दोपहर को जिस टैक्सीवाले को लिया, उसने हमारा डेढ़ सौ रुपये सहित मनीबेग चुरा लिया। बाध्य होकर हम लोगों ने उसे पुलिस के हवाले कर दिया। इस झंझट में हम लोगों को ११ बज गये। काफ़ी रात हो गई। दूसरे ड्राइवर महोदय भी शराब के नशे में ग़र्क़ मिले। वैसे बीहड़ और ख़तरनाक रास्ते में ८० मील की रफ़्तार से मोटर चलाना शुरू किया। बहुत मना करने पर भी वह यही कहता रहा कि हमारी ड्राइवरी का हुनर देखिए। अन्त में एक स्थान में, जहाँ टैक्स

देना होता था, गाड़ी रुकी और हमें आमादा फसाद होकर उसे डपटना पड़ा तब जाकर उसके होश ठिकाने हुए। एक मित्र ब्रेक थामकर बैठे और दूसरे ने गेयर सम्हालकर मोटर चलाना शुरू किया। ड्राइवर को हम तीन प्राणी पीछे की सीट पर पकड़कर बैठे और रास्ता पूछ-पूछकर यथास्थान पहुँचे। वैसे भीषण स्थान में यदि मोटर छोड़ते तो जंगली जीव खा जाते और चलाना न मालूम होता तो ड्राइवर महोदय खड्ड में गिराकर प्राण लिये बिना न मानते। मारडोल पहुँचकर उस ड्राइवर ने पुलिस को मिलाया तथा अन्य ड्राइवरों को एकत्र करके शैतानी करनी चाही, किन्तु हम लोग पहले से ही सतर्क थे, अतः कुछ गड़-बड़ न हो सकी।

मारडोल पहुँचकर देखा तो यात्रा का रथ मंदिर के निकट पहुँच चुका था। ये यात्राएँ प्रतिवर्ष के विभिन्न महीनों में प्रत्येक मंदिर की ओर से केवल एक बार होती हैं। मंदिर की ओर से लगभग २४ फ़ीट ऊँचे रथ पर भगवान् की मूर्तियाँ पधारकर गोधूलि वेला में निकालते हैं। नगर की परिक्रमा कराके रात्रि में एक या दो बजे के क़रीब पुनः मंदिर में लौट आते हैं। इसके बाद नाटक आदि द्वारा सबेरा कर दिया जाता है। ये उत्सव लगातार तीन या पाँच दिन तक एक ही मंदिर की ओर से एक ही स्थान में होते हैं। रथ के आगे बहुत लम्बा मोटा रस्सा रहता है। उसको नागरिक सद्गृहस्थ अपने हाथ से खींचते हैं। इस प्रकार रथ अति मंथरगति से चलकर सौ-दो सौ क़दम पर रोक दिया जाता है। रथ के आगे-आगे चलने-वाली देवदासियों के झुण्ड में से दो-तीन गायिकाएँ गीत गाती हैं। इसके बाद समस्त देवदासीदल मिलकर नृत्य करता है। गायन विशुद्ध राग-रागिनियों से युक्त हिन्दी में और नृत्य देवदासी नृत्यात्मक मौलिकता लिए दर्शनीय था। नृत्य कई क़िस्म के होते हैं। बीस-पचीस सजी हुई देवदासियों का दल एक साथ विभिन्न तालों से घुँघरू बजाता हुआ चलकर नाना प्रकार के आकार बनाता और अन्त में एक ही आकृति से स्थिर होता था। देवदासियों को देवता को समर्पित करने की रीति आदि में चाहे निर्दोष रही हो, परन्तु मेरी तो धारणा यही है कि वे बाक़ायदा वेश्याएँ ही हैं। कोई भी उन्हें उसी प्रकार प्राप्त कर सकता है जैसे वह साधारण कामिनियों को उपलब्ध कर सकता है। सौन्दर्य की दृष्टि से समस्त गोवा की नारीजाति के साथ ही प्राकृतिक आभा का सौष्ठव हृदय-हारी है।

हमारी इस यात्रा में एक रात्रि अति कठिन गुज़री। हम सभी मारडोल से १० मील आगे केवडना में "महालक्ष्मी" और "नागेश" के दर्शनार्थ गये थे। एक टैक्सी के द्वारा २ बजे दोपहर में उक्त स्थान पर पहुँचे और यह समझकर कि दूसरी टैक्सी ले लेंगे या रात्रि में यहीं ठहर जायँगे, उस टैक्सी को भाड़ा दे दिया। वहाँ खेतों, जंगलों और बाग-बगीचों में कुछ ऐसा जी लगा कि हम सभी चारों ओर भूलभूलैया का आनंद लेते हुए चिराग़ जलने पर "महालक्ष्मी" से "नागेश" के मन्दिर आये। उस समय वहाँ आरती होने जा रही थी। दर्शन आदि करने के बाद हम लोगों ने तलाश की तो कोई भी सवारी नसीब न हुई। भूख बहुत ज़ोर की लगी थी। खाने के नाम पर [illegible] और तीन बेसन के लड्डुओं के सिवा और [illegible] मिला। वहाँ से ६ मील गोवा सूबे का एक [illegible] थाना था। सभी लोगों ने यही बताया कि व[illegible] मिल जायगी। एक वहाँ के निवासी को लालटे[illegible] चलने को किराये पर तय करके हम लोग थाना की तरफ़ चले। राह में एक टैक्सी मिली। ड्रा[illegible] दुगना किराया माँगा, इसलिए हमने यह सो[illegible] गंतव्य स्थान पर तो सवारी मिल ही जायगी[illegible] टैक्सी छोड़ दी। यद्यपि वह कह रहा था कि वहा[illegible] सवारी नहीं मिलेगी। हम लोगों ने उसकी बात [illegible] विश्वास नहीं किया। यथास्थान पर कोई सवारी नहीं मिली! सड़क पर किसी मनुष्य और देवता के दर्शन नहीं हुए। ज़ोरों की भूख लग रही थी। ८ मील पहाड़ी रास्ता समाप्त करने पर जिला मिला। वहाँ प्रधान न्यायालय, अधीन अदालतें, हाईस्कूल आदि सभी कुछ था। किन्तु हमारे दो-चार घरों में यह बताने पर कि हम लोग मुसाफ़िर हैं तथा आफ़त के मारे हैं,

किसी ने भी स्थान देना स्वीकार न किया । धर्मशाला, होटल कुछ भी न था । हमारे साथी बेतरह थककर सड़क पर बैठ गये । हम लोगों में उठने की ताक़त न थी । इसी समय यह सोचा गया कि किसी अधिकारी (officer) की कोठी के नीचे शरण लेनी चाहिए । पथप्रदर्शक के यह बताने पर कि थोड़ी देर में यहाँ जंगली जानवरों का साम्राज्य हो जायगा, हम लोगों ने उपर्युक्त विचार भी त्याग दिया । अन्त में यह तय हुआ कि किसी हाईस्कूल की इमारत में पनाह लेनी चाहिए । एक हेडमास्टर साहब को खोज निकाला गया । वे महाराष्ट्र महोदय साथ हो लिये । नाले-नाले फाँदते हुए एक चौड़ी राह पर पहुँचकर उन्होंने फ़रमाया कि इसी तरह से मारडोल चले जाइए, अब हम अपने घर जाते हैं । हमें अत्यन्त विस्मय हुआ कि पढ़े-लिखे लोग भी ऐसे हो सकते हैं ! जब तक हम लोग कुछ कह-सुन सके वे हमसे ५० मील की दूरी पर जा चुके थे ।

अन्त में हारकर हम लोगों ने "मारडोल" का रास्ता नापना शुरू किया । साथ में लालटेनवाला पथप्रदर्शक [illegible] हिफ़ाज़तन् हममें से वे साथी, जिन्होंने कभी [illegible] न पी थी लगातार रेलगाड़ी की तरह [illegible] करते जा रहे थे । ख़्याल यह था कि आग [illegible] ई जानवर समीप न आ सकेगा । घोर [illegible] ार्ताओं के सहारे रो-धोकर वह रात काट [illegible] ला । बड़े-बड़े भयानक दृश्यों के दर्शन हुए परन्तु [illegible] रह हम सब सही-सलामत मारडोल आ [illegible] छ कटु-[illegible] "रथोत्सव" हो रहा था । उसे देखा, फिर [illegible] मालोच[illegible] चार बजे वहाँ से एक टैक्सी के द्वारा [illegible] स बर[illegible] आ गये ।

सुबह १० बजे सोकर उठे और वहाँ से कूच का डंका बोला गया । जब १२ बजे हमारा सामान मोटर अड्डे (stand) के लिए घोड़ागाड़ी पर लद चुका तब हिसाब चुकाते समय होटल के गुजराती ब्राह्मण मैनेजर से तकरार हो गई । सवाल यह था कि वह दोनों समय के भोजन का पूरा पैसा जोड़ रहा था । घी से लेकर तरकारी तक हम बम्बई से ले गये थे और हमारे ही सामान से उसने रसोई बनाई थी तथा बचा हुआ सामान भी हमने उस ब्राह्मण मैनेजर को बतौर इनाम के दे दिया था । नौबत पुलिस के बुलाने तक पहुँची । इस काण्ड में सबसे ग़ौर तलब बात उसके अहंकार-युक्त शब्द थे । वे शब्द स्पष्ट घोषणा कर रहे थे कि हम हिन्दोस्तानी नहीं गोवानी हैं ।

पंजीम से कोई स्टीमर एक सप्ताह से कम नसीब न होता था । अतः वहाँ से लारी द्वारा चलकर एक छोटे समुद्री स्थान पर आये । उसी लारी में कुछ युवक-युवती विद्यार्थियों से परिचय हुआ । वे लोग पोर्चुगीज़ के अतिरिक्त अँगरेज़ी का भी अल्प ज्ञान प्राप्त कर रहे थे । इन युवतियों और युवकों ने हमें मार्ग में तीन जगह अपने-अपने घरों में चाय पिलाई तथा इधर-उधर घुमाया भी । इनकी निःसंकोच और विश्वसनीय मिलनसारी ने हमें एक अलौकिक आनंद दिया ।

एक छोटे-से "बोट स्टीमर" पर चढ़कर समुद्र की लहरों के छींटे खाते और डगमगाते हुए गोवा बन्दरगाह पर पहुँचे । यहाँ पर दो जर्मन व्यापारिक जहाज़ 'ड्रेचेनफेल्स' और 'ब्रानफेल्स' लंगर डाले पड़े थे । उधर ब्रिटिश सीमा में इन जहाज़ों की ताक में ब्रिटिश पहरेदार जंगी जहाज़ नज़र गड़ाये प्रतीक्षा कर रहे थे । दोनों जहाज़ों की यही इच्छा थी कि नज़र के हटते ही हम दोनों भाग निकलें । ब्रिटिश जंगी जहाज़ इन्हें गिरफ़्तार करने की खोज में थे ।

यहाँ से रम्य कोकनप्रदेश की झाँकी निहारते, अति ऊँची तथा अति नीची कहीं क़तई गोल और कहीं अर्धचन्द्राकार रेलवे लाइन का मज़ा लेते हुए पूना आ पहुँचे । राह में वास्कोडीगामा की मूर्ति गोवा डायमनड्यू में देखी । "किर्लोस्कर ब्रादर्स" का कारख़ाना देखा । एक स्थान पर हमारे सामान की जाँच हुई । गोवा की सीमा में जब तक रेलगाड़ी जा रही थी तब तक ताश न खेल सके, क्योंकि वहाँ की सरकार द्वारा यह खेल वर्जित है । दूसरे दिन गार्ड से तार दिलवाकर अगले तीसरे स्टेशन पर दो आदमियों के लिए भोजन मँगाया । शाकाहारी भोजन के लिए तार देने से सिर्फ़ चावल और सब्ज़ी मिली । दो आदमियों के लिए आये हुए चावल इतने अधिक थे कि

हम पाँच प्राणियों ने भरपेट खाया। उसके बाद भी पूरी दो ख़ूराकों का भोजन व्यर्थ करना पड़ा।

इस तरह से हम भारत के सर्वप्रथम अभाग्य केन्द्र या ग़ुलाम होनेवाले कोंकनप्रदेश संप्रति सैकड़ों वर्ष के ग़ुलाम गोवा के पुरुष (कंकालवत्) निवासी गरीब और सौन्दर्य की प्रतिमाओं तथा प्रकृति की देन मनोहारी वन, पर्वत, सिंधु आदि की एक रसीली तथा दुःखद स्मृति को लेकर पूना में प्रभात-फ़िल्म कम्पनी और दर्शनीय स्थानों को देखते हुए बम्बई लौट आये।

पुराने गोवा के गिरजे, वहाँ से क़रीब ही एक स्थान पर अजायबघर में रक्खे हुए पत्थरों के बल्लम, फरसा सदृश अस्त्र, मुंगेश, मारडोल, वेलिंग, केवड्यों सिरोड़ा, फोंडा, थाना आदि के तीन-चार सौ वर्ष पुरातन विशालकाय देवालय क्या कभी स्वतंत्र भारत के गौरव या संपत्ति हो सकेंगे ? यही एक प्रश्न हमारी समस्त यात्रा का तत्त्व निकला। सर्वशक्तिमान् का यह खेल कब तक चलेगा, वही जानें !

गीत

श्रीभगवतीप्रसाद सकलानी एम्० ए०

बाँध लो निर्बन्ध को
भुज-बन्धनों में आज जी भर !
जब सघन-घन नभ-जलधि में हो हिंडोले-से तरंगित,
जब चपल-विद्युत्, चमक-द्रुत, कर रही हो मौन इङ्गित,
शून्य-जग के शून्य-मग में, शून्य-तरु की छाँह में,
हम मिलेंगे युगल प्राणी क्षीण-कटि कस बाँह में,
मैं बनूँगा क्षितिज-सीमित
तुम बनो विस्तीर्ण अम्बर !
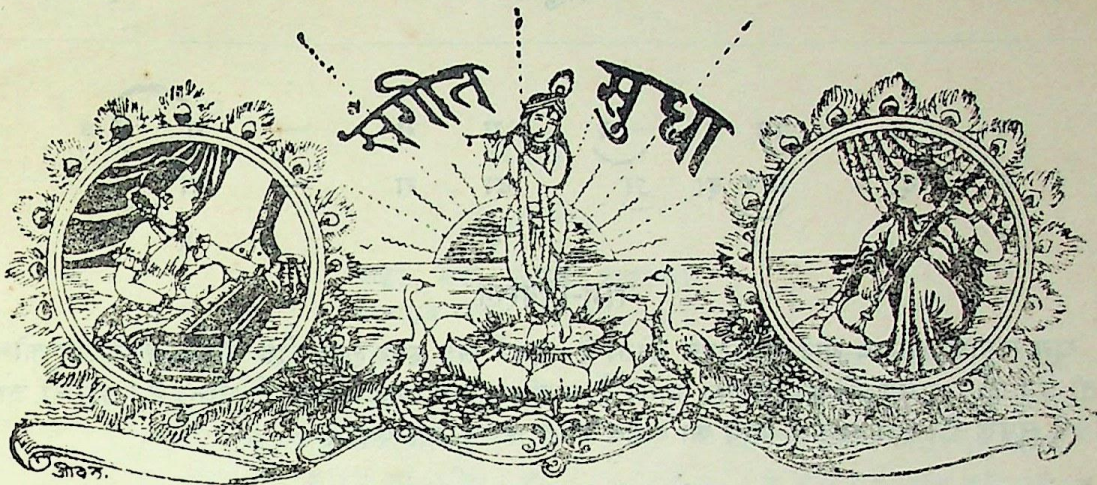
गत सितार

रचयिता—श्रीभगवानदीनजी संगीतविशारद

राग खमाच ताल झपताल

स्थायी

								ग	-म
								दा	ऽर
ग	सा	सा	ग	मम	पप	संसं	नी-	नीध	-ध
दा	दा	रा	दा	दिर	दिर	दिर	दाऽ	रद	ऽर
×		२			०		३		
म	म	पप	प	-ध	म	ग	—	ग	-म
दा	दा	दिर	दा	ऽर	द	रा	ऽ	दा	ऽर
×		२			०		३		

अंतरा

						नीं	नींनीं	नींनीं	सांसां
						दा	दिर	दिर	दिर
							३		
नीऽ	निध	-ध	प	नी	सांसां	सां	-ग	सां	
दाऽ	रद	ऽर	द	दा	दिर	दा	ऽर	दा	द
×		२			०		३		

ध	म	पप प	—ध	म	ग	—	ग	—म
र	दा	दिर दा	ऽर	दा	रा	—	दा	ऽर
×		२		०			३	

राग-विवरण

राग खमाच खमाच थाट से उत्पन्न होता है। इसमें सब स्वर शुद्ध होते हैं केवल निषाद कोमल होती है। जाते समय नी शुद्ध लगाई जाती है, कभी-कभी कोमल भी लगाई जाती है। इसकी जाति षाडव संपूर्ण है। इस राग के गाने का समय रात्रि का दूसरा पहर है।

आरोह व अवरोह का स्वरूप

सा	ग	म	प	ध	नी	सां
सां	नि	ध	प	मग	रे	सा

पकड़

ग म नी ध. ऽ म प ध. ऽ म ग ऽ

⁀ इस चिह्न से अभिप्राय है, जिस स्वर से, जिस स्वर तक यह चिह्न बना हो, उस स्वर से दूसरे स्वर तक तार घसीटा जाय जिसे मींड कहते हैं।

वर्तमान संगीतकलाकारों को सितार पर केवल तीन ही ताल पर बजाते देखा जाता है, Radio, Music, Conferences इत्यादि। प्रत्येक स्थान पर उसी तीन ताल के अतिरिक्त कुछ बजाते हुए नहीं देख पड़ता। यदि कभी संगीत के उच्च कलाकारों से और तालों में सुनाने की इच्छा प्रकट की जाती है तो वह उसे बजाने में कठिनाई का सामना करते हुए से दिखलाई पड़ते हैं। इसका क्या कारण है? क्या उनको और तालों में बजाने की शिक्षा ही नहीं मिली, और यदि यह नहीं तो क्या है!

जिस सुन्दरता को वह तीन ताल में प्रदर्शन करते हैं वह और तालों में क्यों नहीं कर[illegible] अन्य तालें जो कि Vocal music में इतना उच्च स्थान रखती हैं, सितार में उनका स्थान न[illegible]के समान है। इसलिए सितार की वह सुन्दरता जो कि अन्य तालों में होती है वह छिपी हुई है।

मुझे आशा है कि पाठक और संगीत की उन्नति चाहनेवाले कलाकार उपर्युक्त बात पर ध्यान देंगे। मैं सितार की एक गत को, जो कि झपताल में रक्खी गई है, नमूने के लिए देता हूँ। आशा है, पाठक मेरे इस क्षुद्र परिश्रम को व्यर्थ न जाने देंगे। भविष्य में और तालों पर भी गतें देने की कोशिश की जायगी।

गीत

श्रीसागरसिंह

कहीं देखे तुमने अनजान
भटकते मेरे जीवन-गान ?

मौन होकर पलभर चुपचाप
बनाये थे मैंने कुछ गीत।
न मुझको था भविष्य का ज्ञान
चाँदनी में पढ़ता था प्रीत।
चंद्र-किरणों का वह अवसान
कहीं देखा तुमने अनजान ?
लुटा था दिया प्रथम ही बार
कुसुम-सम अपना कोमल प्यार;
भिखारी था पर सुखी महान
हमारा वह जीवन सुकुमार।
वेदन- पूर्ण हमारे गान
कहीं देखे तुमने अनजान ?

कौन करता जीवन का मोल
कि जीवन ही था जब वरदान ?
प्यास थी एक मिली वह अमर
न बुझ पाई अब तक नादान।
विकलता की पहली पहचान
कहीं देखा तुमने अनजान ?
कौन कह सकता था उस पार
मिलन का पथ भी है वीरान।
कौन कह सकता था उस पार
प्रेम में भरा कष्ट का गान।
उसी जीवन की मधुमय तान
कहीं देखी तुमने अनजान ?

प्रश्न

कुमारी किरण ठाकुर

जीवन-घट को कैसे भर लूँ

[illegible]छ कटु-[illegible] पश्चिम में लाली,
[illegible]किरण भी छिपनेवाली;
[illegible] अलख ओर से झंझा आती
कैसे उसको बस में कर लूँ ?
खड़ी हुई मैं कब से तट पर,
देख रही कुछ तम के पट पर;
खोज रही उस ज्योति-किरण को,
जिससे अपने तम को हर लूँ ?
कोकिल सुख के गाने गाती,
पतझड़ में मधुऋतु को लाती;

प्रिय का सुखमय स्वर ले लेती,
पर मैं कैसे उसका स्वर लूँ ?
दुख-सुख का जीवनसम प्रतिपल,
एक लहर में सुधा हलाहल;
आते जीवन में सँग ही फिर,
कैसे अमृत से घट भर लूँ ?
इसी भ्रांति में युग बीता है,
इसी क्रांति से घट रीता है;
बोलो आज तुम्हीं प्रभु बोलो !
कैसे, किस जल से घट भर लूँ ?

गीत

श्रीसुखानन्द अवस्थी

मानस मत सिहर
जीवन भर विहर
एक पल ठहर किन्तु देख जग को इधर।
उधर अरुणिम पलाश
पल्लव के हरित पाश
पीत धान जगत-आश
रंजित जग सुघर—
मानस मत सिहर।
जगती भी भर गुलाल
पीत हरित लाल लाल
लेकर कर खेत थाल
लेती है लहर—
मानस मत सिहर।
सुरभिपूर्ण आम्र बौर
महुआ उत ठौर-ठौर
झुके पके धान और
होली के पहर—
मानस मत सिहर।
झुके नयन भरे लाज
अधर अधिक अरुण आज,
प्रकृति और ऋतुराज
क्रीड़ा में तत्पर।

गीत

श्रीसोहनलाल द्विवेदी एल्-एल्० बी०

उस दिन, जब तुम मुझे मिले थे, आम्रकुञ्ज की मधु छाया में।
भूल गये क्या वे दिन अपने ?
जब साकार बने थे सपने,
हम तुम लगे पुलक में कँपने,
आज धुल रहे हैं दूर्वादल, उमड़े आँसू की काया में।
मधुऋतु फिर सौरभ ले आई,
गंध अंध महकी अमराई,
सुधि की पिक ने तान सुनाई,
विरस जायगा क्या सब मधुरस, कह न सकोगे 'लो आया मैं !'
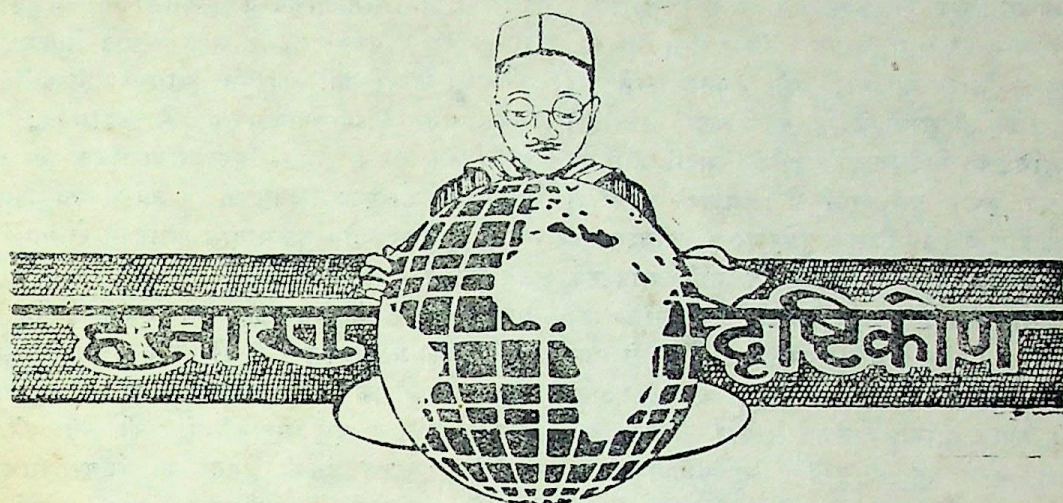
१—साहित्य में समालोचना का स्थान

साहित्य कहने से अगर यथार्थ साहित्य का बोध होता है ; अगर केवल कुछ छपे हुए पृष्ठ, रंगीन जिल्द, चित्रों की भरमार, भाव और भाषा के सौष्ठव से हीन अथवा कदर्य भाव और भाषा की समष्टि किसी ऐरी-ग़ैरी पुस्तक का बोध न होकर उत्कृष्ट और उपयोगी, ज्ञानवर्द्धक गद्य या पद्य रचना साहित्य है तो निरपेक्ष, निर्भीक और यथोचित समालोचना के साथ उसका घनिष्ट सम्बन्ध होना अनिवार्य है। जैसे कुछ छपे हुए काग़ज़ों को साहित्य नहीं कहा जा सकता, वैसे ही कुछ कटु-तिक्त गालियों को अथवा अनर्गल प्रशंसा को समालोचना नहीं माना जा सकता। समालोचना का काम बड़ा कठिन है। लेखक या कवि को समझने के लिए समालोचक में उसकी ही दृष्टि और योग्यता होनी चाहिए। लेखक के भाव से अनुप्राणित हुए विना कोई सहृदयतापूर्ण उत्कृष्ट समालोचना कर ही नहीं सकता। समालोचक को यह समझना और समझाना चाहिए कि लेखक क्या कहता है, किस तरह कहता है, क्यों कहता है और कहाँ तक रचना में सफल हुआ है। Canons of criticism का मतलब यही है। समालोचक को निरपेक्ष दृष्टि से यह देखना चाहिए कि जिस विषय की वह पुस्तक है ; उसकी आलोचना रचयिता ने उचित रूप से की है या नहीं ; वैसी आलोचना उससे पहले और भी किसी ने की है या नहीं, आलोच्य रचना पर पहले के लेखकों का कितना प्रभाव पड़ा है ; वह मौलिक है या नहीं ; उस विषय की चर्चा साहित्यजगत् और मानवसमाज में सुफल उत्पन्न करेगी या कुफल ; जिस भाषा और छन्द में भाव प्रकट किया गया है, उसकी विशेषता, सौंदर्य, मौलिकता, दोष अथवा गुण क्या हैं, भाव ठीक तौर से व्यक्त हुआ है या नहीं। समालोचक के लिए यह परम आवश्यक है कि साधारण साहित्य पर उसका पूरा अधिकार हो—केवल वर्तमान काल के साहित्य का ही नहीं, पिछले साहित्य और विदेशी साहित्य का भी कुछ-कुछ परिचय उसे होना चाहिए। मन के भाव और भाषा पर थोड़ा या बहुत अधिकार होने से कवि या लेखक बना जा सकता है ; किन्तु समालोचक नहीं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि समालोचक को ज्ञान और समदृष्टि में लेखक की अपेक्षा अधिक होना चाहिए। पर इसका यह मतलब नहीं है कि लेखक का स्थान समालोचक के नीचे है अथवा समालोचक लेखक का विधाता है। सच्चे लेखक या कवि का स्थान समालोचक से बहुत ऊपर है। लेखक एक पवित्र खुशबूदार फूल है और समालोचक

उस सुगन्ध का संदेश सर्वत्र फैलानेवाला पावन पवन। लेखक का दर्जा समालोचक से श्रेष्ठ ही है। शेक्सपियर या कालिदास जानसन, दण्डी और क्षेमेन्द्र से बड़े हैं। सुन्दर काव्य या नाटक की रचना करने का सौभाग्य थोड़े ही लोगों के भाग्य में बदा होता है; किन्तु पाण्डित्य, विवेचनाशक्ति और समदृष्टि होने पर समालोचक अनेक बन सकते हैं। यथार्थ कवि या दार्शनिक होने के लिए जिस अनुप्रेरणा की आवश्यकता है, समालोचक होने के लिए वह नहीं आवश्यक होती। साधारण ज्ञान और समदृष्टि समालोचक का प्रधान गुण है और ये दोनों गुण चेष्टा करने से प्राप्त हो सकते हैं। किन्तु कवि की दृष्टि, कवि का मन, कवि की ध्यान-धारणा जन्मगत संस्कार की तरह हैं; हज़ार चेष्टा करने पर भी इन्हें प्राप्त नहीं किया जा सकता। साधना से शब्दों की कारीगरी की जा सकती है, यथार्थ कविता नहीं। अँगरेज़ी में कहावत है—A poet is born, not made, a poem is not made but grows. साधारण लोग आँखें रहते भी अंधे होते हैं, मुख रहते भी गूँगे होते हैं और कान रहते भी सुन नहीं पाते। इसी से प्रकृति के स्वरूप, मनुष्यों के मन के भाव और घात-प्रतिघात तथा साधारण वस्तु में असाधारण सौन्दर्य देखना उनके लिए असम्भव है। भगवान् की दी हुई शक्ति जिसमें नहीं है, वह अणु-परमाणु में अनन्त सौंदर्य, अक्षय आनन्द, असामान्य शक्ति को नहीं देख पाता। इस प्रकार जीव को, जगत् को देखने की शक्ति भगवान् ही देते हैं। हाँ, अभ्यास इसकी वृद्धि में, परिमार्जन और परिवर्द्धन में सहायक हो सकता है। ऐसे शक्तिशाली लोग विधाता की दी हुई इस अलौकिक शक्ति का यथोचित प्रयोग करें, यही देखना समालोचक का काम है।

× × ×

२—क्या समालोचना के विना सत्साहित्य नहीं पनपता?

अब प्रश्न यह होता है कि समालोचना के अभाव में सत्साहित्य का विकास होता है या नहीं? वाल्मीकि, होमर, शेक्सपियर, दान्ते, मोलियर, गेटे आदि का विकास किस समालोचक की समालोचना ने किया? हिन्दू-धर्म के पुनरुत्थान के साथ सम्राट् विक्रमादित्य की सभा में सरस्वती के वरपुत्र कविचक्रवर्ती कालिदास जब मनोहर काव्य-नाटक-रचना से भारत को मुग्ध कर रहे थे, उस समय किस समालोचक ने उनके पथप्रदर्शन का काम किया था? जब जयदेव, विद्यापति, सूरदास, गो० तुलसीदास आदि ने रचनाएँ कीं, तब उन्हें किस समालोचक से सहायता मिली? इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि उक्त कवियों का पथप्रदर्शन भले ही उनके किसी समसामयिक समालोचक ने न किया हो, पर परवर्ती अनेक समालोचकों ने इन महाकवियों की रचनाओं की आलोचना करके उनकी श्रेष्ठता का सिक्का साधारण पाठकों के हृदयों में जमाया है; उक्त कवियों की रचनाओं के प्रति आकर्षण पैदा किया है। पर इन महाकवियों की बात छोड़ दीजिए। साधारणतः लेखकों और पाठकों को रचना के गुण-दोष दिखानेवाला और इस प्रकार सत्साहित्य का विकास करनेवाला समालोचक ही होता है। पूर्वोक्त प्रश्न पर साधारण दृष्टिपात करने से यही प्रतीत होता है कि साहित्य के ऊपर समालोचना का आधिपत्य अधिक नहीं है; किन्तु विशेष विचार करने पर यही मालूम होता है कि ऊपर कहे गये महाकवियों ने समालोचना के विना ही यथेष्ट सफलता प्राप्त की थी, उनके विकास में समालोचना का विशेष हाथ नहीं रहा—यह ठीक है, किन्तु सर्वदा सभी कवियों या लेखकों के लिए यह बात लागू नहीं हो सकती। बात को तनिक विस्तार के साथ बतलाने की ज़रूरत है। सभी देशों में कभी-कभी reative epoch या साहित्य-सृष्टि का युग आता है। जैसे ऋतुराज वसन्त के आने पर प्रकृति में सौन्दर्य की लहर दौड़ जाती है, वैसे ही इस युग में उस देश में भाव का सागर लहराने लगता है और प्रतिभाशाली साहित्यिकों का प्रादुर्भाव होता है। जैसे पहाड़ों से झरने फूटकर उद्दामगति से बहने लगते हैं, वैसे ही उस समय साहित्य की सृष्टि होने लगती है। यह सच है कि उस समय अनेक असार रचनाएँ भी